॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

७

महाकविकालिदासविरचितं

कुमारसम्भवम्

'विमला'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकारः—

डॉ० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी

भू० पू० प्राध्यापक एवं अध्यक्ष

पुराणेतिहास, संस्कृति, भूगोल विभाग,

श्रीसम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

७

महाकविकालिदासविरचितं

कुमारसम्भवम्

'विमला'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्
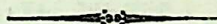
डॉ० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी

(आचार्य, एम० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०)

लब्धावकाशप्राध्यापकः, पुराणेतिहास-भूगोल-संस्कृति-विभागाध्यक्षश्च

वाराणसेय श्रीसम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक—

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पोस्ट बाक्स नं० १२९

वाराणसी २२१००१

षष्ठ संस्करण १९८२

मूल्य { प्रथम सर्ग ३–२५
१–२ सर्ग ५–५०

अन्य प्राप्तिस्थान—

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे),

पोस्ट बाक्स नं० ६९

वाराणसी २२१००१

मुद्रक—

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

THE
CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA
7

KUMĀRASAMBHAVAM

OF

KĀLIDĀSA

Edited with

THE 'VIMLA'-'CHANDRAKALA' SANSKRIT & HINDI COMMENTARIES

By

Dr. Shrikrishnamani Tripathi

Former Professor & Head of the Deptt. of Puranetihas.

Sri Sampurnananda Sanskrit Vishwavidyalaya, Varanasi.

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

VARANASI

© CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
(Oriental Booksellers & Publishers)
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 129
VARANASI 221001

Sixth Edition
1982

Price Rs. { Canto I 3-25
Cantos I-II 5-50

Also can be had of
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
(Oriental Booksellers & Publishers)
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 69
VARANASI 221001

प्रस्तावना

संस्कृत साहित्य से परिचित कौन-सा ऐसा व्यक्ति होगा जिसने कविकुल-कलाधर कविवर कालिदास का नाम न सुना हो। जिस कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तल नाटक ने उनकी कीर्ति-कौमुदी को विश्वव्यापी एवं अमर बना दिया है और जिनकी कविता-कामिनी की माधुरी पर मुग्ध होकर विदेशी विद्वान् आश्चर्यचकित हैं, उस कालिदास का नाम कौन नहीं जानता है ?

कालिदास की महत्ता

न केवल भारतवर्ष में ही अपितु सारे संसार के सर्वश्रेष्ठ कवियों में कालिदास का सर्वोच्च एवं प्रमुख स्थान माना गया है। विश्व की किसी भाषा का कोई भी कवि अभी तक कालिदास की बराबरी नहीं कर पाया है।

इनके अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक की नाट्यकला पर मुग्ध होकर एक जर्मनी आलोचक ने ठीक ही कहा है "अंग्रेजी नाटककार शेक्सपीयर की तुलना कालिदास से करना अपनी अज्ञता का परिचय देना है। क्योंकि शेक्सपीयर के सारे नाटक एक तरफ रख दिये जाँय और कालिदास का एक ही नाटक अभिज्ञान-शाकुन्तल दूसरे तरफ रख दिया जाय तब भी शेक्सपीयर के सारे नाटक कालिदास के एक नाटक अभिज्ञानशाकुन्वल की बराबरी नहीं कर सकते हैं।" जर्मनी भाषा में शाकुन्तल का अनुवाद देखकर महाकवि गेटे ने आमन्दविभोर होकर इसकी प्रशंसा करते हुए कहा था कि यदि स्वर्ग एवं मर्त्यलोक को एक ही स्थान पर देखना हो तो शाकुन्तल को देखो।

इनकी सर्वातिशायिनि अद्‌भुत विलक्षण प्रतिभा ने सारे विश्व को आश्चर्यचकित कर दिया है। आपके काव्यों में नाट्यकला की सुन्दरता, महाकाव्य की वर्णनशैली, गीतिकाव्य के सरस हृदयोद्‌गार को पढ़कर क़िस सहृदय का हृदय गद्‌गद् नहीं हो उठता है। काव्य, नाटक, गीति जिस दिशा में देखा जाय उसी दिशा में इनकी अद्‌भुत प्रतिभा ने एक नयी कल्पना को प्रश्रय देकर संस्कृत साहित्य के स्तर को ऊँचा कर दिया है। इनके काव्यों में सरलता, प्रसाद गुण-सम्पन्नता उपदेशप्रदता, धार्मिकता एवं भारतीयता का भाव कूट-कूटकर भरा हुआ है। इसीलिए संस्कृत साहित्य में इनकी बहुत बड़ी प्रतिष्ठा है।

यद्यपि संस्कृत साहित्य के काव्य-संसार में माघ, भारवि, श्रीहर्ष, सुबन्धु, दण्डी, बाणभट्ट, भास, भवभूति आदि बहुत से विद्वान हुए हैं, जिनकी कीर्ति-कौमुदी दिग्-दिगन्तर में व्याप्त है एवं जिनकी विलक्षण कविता प्रलयपर्यन्त सहृदयों के सरस हृदय को नवीन ज्योति प्रदान करती रहेगी तथापि इनमें जैसी अद्भुत-कल्पना की छटा तथा काव्यकला दीख पड़ती है वैसी अन्य कवियों में नहीं। कालिदास के ग्रन्थों को देखकर निःसंकोच कहना पड़ता है कि वे सभी कवियों में शिरोमणि हैं। इनकी कविता की प्रशंसा करते हुए एक आलोचक ने ठीक ही कहा है—

माहिषं दधि सशर्करं पयः कालिदासकविता नवं वयः।
शारदेन्दुरबला च कोमला स्वर्गशेषमुपभुञ्जते जनाः॥

महाकवि बाणभट्ट ने (जिनके विषय में कहा जाता है कि "बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्") अपने हर्षचरित में कालिदास की कविता पर इस प्रकार सद्भावना व्यक्त की है—

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥

संस्कृत साहित्य में कालिदास के काव्यों में रस, माधुर्य, कोमलभाव और साभिप्राय-वर्णन अद्वितीय है। इनकी अद्वितीयता के सम्बन्ध में किसी मर्मज्ञ आलोचक ने बड़ी ही सुन्दर कल्पना की है—

पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठकाधिष्ठितकालिदासः।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवत्ती बभूव॥

किसी समय जब श्रेष्ठ कवियों की गणना होने लगी तब सबसे पहले कालिदास को सर्वप्रथम स्थान देकर उनको कनिष्ठ अंगुलि पर रखा गया। बाद यह विचार उपस्थित हुआ कि द्वितीय स्थान किस कवि को दिया जाय? पर कालिदास जैसे विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न कवि के न रहने के कारण दूसरी अंगुली अनामिका पर किसी कवि का नाम पड़ा ही नहीं इसलिए अनामिका (जिस पर किसी का नाम न पड़े) का नाम सार्थक हो गया। अर्थात् यह बिना नाम की ही रह गयी। गणना की सर्वानुभूत पद्धति यह है कि कुछ गिनते समय सबसे पहले कनिष्ठ अंगुली पर ही अङ्गुष्ठ को रखते हैं। बाद अनामिका, मध्यमा तथा तर्जनी पर।

विश्वविख्यात गीतिकाव्य के रचयिता पीयूषवर्षी कवि जयदेव ने तो कालिदास को कविताकामिनी का विलास मानते हुए इन्हें कविकुलगुरु की उपाधि से विभूषित किया है।

कालिदास का जीवनवृत्त

कालिदास ने अपने जीवन के सम्बन्ध में अपने ग्रन्थों में कहीं भी कुछ नहीं लिखा है किन्तु विद्वत्समाज में यह किम्वदन्ती प्रसिद्ध है कि कालिदास उज्जयिनी के राजा महाराज विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में एक महारत्न थे। बचपन में इन्होंने कुछ भी नहीं पढ़ा-लिखा था। एक स्त्री के कारण इन्हें अनमोल विद्यारत्न प्राप्त हुआ। इसकी कथा इस प्रकार प्रसिद्ध है—महाराज सदानन्द की पुत्री विद्योत्तमा बड़ी विदुषी और सुन्दरी थी। उसको अपनी विद्या का बहुत बड़ा गर्व था। उसने यह प्रतिज्ञा की थी कि शास्त्रार्थ में मुझे जो हरा देगा उसी से मैं अपना विवाह करूँगी। उस राजकुमारी के रूप, यौवन और विद्या की प्रशंसा सुनकर दूर-दूर विद्वान् आते थे पर शास्त्रार्थ में इससे पराजित होकर चले जाते थे। जब विद्वानों ने देखा कि यह राजकुमारी किसी प्रकार भी वश में नहीं आती है, सबको हरा देती है। तब उसकी विद्वत्ता से लज्जित होकर सभी ने राय की कि किसी ढंग से इसका विवाह ऐसे महामूर्ख के साथ करा दिया जाय कि जिससे यह जीवन भर अपने अहंकार पर पश्चात्ताप करती रहे। परिणामस्वरूप वे लोग एक मूर्ख की खोज में पड़ गये। एक दिन कहीं रास्ते में जाते हुए देखा कि भेड़ चरानेवाला एक आदमी पेड़ के ऊपर जिस डाल पर बैठा है उसी को जड़ से काट रहा है। विद्वानों ने उसे देखकर समझा कि यह तो बहुत बड़ा मूर्ख है, इसी से विद्योत्तमा का विवाह हो जाय तो अच्छा है। बाद बड़े प्रेम से उसे नीचे बुलाया और कहा कि चलो हम लोग तुम्हारा विवाह एक राजकुमारी के साथ करा देंगे। पर देखना राजसभा में मुँह से कुछ भी नहीं बोलना, जो कुछ कहना वह इशारे से कहना लो यह धोती, चादर, जामा और पगड़ी पहन लो, पण्डित बनकर हम लोगों के साथ चलो तो तुम्हारा विवाह जरूर करा दिया जायेगा। इस प्रकार पण्डितों की बात पर विश्वास कर वह मूर्ख पण्डित बनकर राजसभा में पहुँच गया। पहले से ही उपस्थित विद्वानों ने उसका खूब सत्कार किया और उसे सबसे ऊँचे आसन पर बैठा दिया विद्योत्तमा से कहा कि बृहस्पति के समान ये विद्वान् आपके साथ शास्त्रार्थ करने के लिए

आये हुए हैं। किन्तु इस समय ये तपस्या करने के कारण मौन व्रत लिए हुए हैं। शास्त्रार्थ में आपको जो कुछ कहना हो संकेत से कहिए। यह सुनकर राजकुमारी ने अपने मन में यह सोचकर कि ईश्वर एक है एक अंगुली उठाई। उधर मूर्ख ने समझा कि यह एक अंगुली दिखाकर मेरी एक आँख फोड़ने का संकेत कर रही है। इसलिए उसकी दोनों आँखों को फोड़ने के अभिप्राय से अपनी दो अंगुलियों को उठाया। इस पर विद्योत्तमा के विरोधी उपस्थित विद्वानों ने इसका यह अर्थ लगाया कि ये यह संकेत कर रहे हैं कि आत्मा एक नहीं है किन्तु दो है, एक जीवात्मा तथा दूसरा परमात्मा। विद्वानों के इस कुचक्र के परिणामस्वरूप उस राजकुमारी को उससे हार मानकर पूर्व में की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार अपना विवाह उस मूर्ख के साथ कर लेना पड़ा।

रात के समय एकान्त में जब दोनों का मिलन हुआ तब तक किसी तरफ से एक ऊँट चिल्ला उठा। राजकुमारी ने पूछा कि कौन शोर मचा रहा है? उस मूर्ख ने उत्तर दिया कि उट्र चिल्लाता है। राजकुमारी ने चौककर फिर पूछा कि कैसा शोर है? तब वह उष्ट्र बोलता है के बदले 'उट्र बोलता है' यह कहने लगा। क्योंकि वह जन्म से महामूर्ख था, उष्ट्र का शुद्ध उच्चारण कैसे कर सकता था। बाद में विद्योत्तमा को पण्डितों की धूर्तता का पता चल गया, इस पर वह पश्चात्ताप करती हुई फूट-फूट कर रोने लगी। बादमें अत्यन्त दुखी होकर उस मूर्ख को घर से बाहर निकाल दिया और कहा कि यदि तुम विद्वान् होकर आओगे तो मेरे साथ तुम्हारा सम्बन्ध हो सकता है, अन्यथा नहीं। इधर वह मूर्ख भी इस व्यवहार से बड़ा ही लज्जित हुआ, पहले तो सोचा कि अपना प्राण दे दूँ फिर सोच-समझकर विद्योपार्जन में परिश्रम करने लगा। भगवती काली की उसने बड़ी उपासना की, फलस्वरूप देवी की कृपा से थोड़े ही दिनों में वह एक ऐसा प्रभावशाली विलक्षण विद्वान् हो गया कि जिसका नाम संस्कृत साहित्य ही क्या विश्व के इतिहास में अजर-अमर हो गया। सच है, सच्ची लगन से क्या नहीं हो सकता है। ये ही हैं हमारे चरितनायक कविवर कालिदास, जो उपासना द्वारा भगवती काली की कृपा से महाकवि कालिदास के नाम से प्रसिद्ध हो गये।

जब वे कवि होकर अपने घर लौटे तब घर का दरवाजा बन्द था। उसे खोलवाने के अभिप्राय से इन्होंने संस्कृत में कहा कि "अनावृतकपाटं द्वारं देहि" जब विदुषी पत्नी ने प्रश्न किया कि "अस्ति कश्चिद् वाग्विशेषः?" कवि ने अपनी

पत्नी विद्योत्तमा के प्रश्न–भूत वाक्य के अन्दर वर्तमान—अस्ति, कश्चित् और वाग् इन तीन शब्दों से आरम्भ करके तीन काव्य बना डाले।

अस्ति शब्द से आरम्भ करके—कुमारसम्भव महाकाव्य।
कश्चित् शब्द से आरम्भ करके—मेघदूत खण्ड काव्य।
वाग् शब्द से आरम्भ करके—रघुवंश महाकाव्य।

बाद विद्योत्तमा को इस प्रकार पति को एक प्रतिभा सम्पन्न महाकवि के रूप में पाकर जैसा आनन्द का अनुभव हुआ होगा, वह लिखने के बाहर है।

इसी प्रकार कालिदास और विक्रमादित्य तथा कालिदास और भोज के सम्बन्ध में भी कई किम्वदन्तियाँ विद्वत्समाज में प्रसिद्ध हैं जिन्हें यहाँ लिखकर भूमिका का कलेवर बढ़ाना उचित नहीं।

कालिदास कब हुए, कहाँ हुए, किस वंश में हुए और उन्होंने कितने ग्रन्थ बनाये इत्यादि प्रश्नों का अभी तक ठीक-ठीक निर्णय नहीं हो पाया है। क्योंकि उन्होंने अपने सम्बन्ध में अपने ग्रन्थों के अन्दर कहीं कुछ भी नहीं लिखा है। फिर भी विद्वानों ने उनके ग्रन्थों के आधार पर अब तक जो कल्पनाएँ की हैं उसी के आधार पर बराबर ही विचार होता आ रहा है।

कालिदास के ग्रन्थ

किस कालिदास ने कौन से ग्रन्थ बनाये हैं? इसका निर्णय करना एक प्रकार से असम्भव-सा है फिर भी अधिक आलोचकों तथा विद्वानों के मत में महाराजा विक्रमादित्य उज्जयिनी नरेश की अभिरूप भूयिष्ठा सभा को अलंकृत करने वाले कालिदास के ८ ग्रन्थ माने जाते हैं। दो महाकाव्य—एक कुमारसम्भव, दूसरा रघुवंश, एक खण्डकाव्य मेघदूत, दो स्फुट काव्य–ऋतुसंहार और शृङ्गारतिलक और तीन नाटक १—अभिज्ञानशाकुन्तल, २—मालविकाग्निमित्र, ३–विक्रमोर्वशीय। कुछ लोग नलोदय और श्रुतबोध को भी इन्हीं की कृति मानते हैं।

विद्वानों की परम्परा में अनेक कालिदास होने की बात प्रसिद्ध है। दशम शताब्दी में वर्तमान राजशेखर कवि ने अपने काव्यमीमांसा में तीन कालिदासों का स्पष्ट उल्लेख किया है।

इसके अतिरिक्त एकादश शताब्दी में राजा भोज के दरबार में भी एक कालिदास थे, इसका पता बल्लाल कवि प्रणीत भोजप्रबन्ध से लगता है।

अनेक कालिदासों को देखकर कुछ आलोचकों ने यह भी माना है कि जैसे आद्य स्वामी शङ्कराचार्य की परम्परा पर चलने वाले आगे के संन्यासियों को शङ्कराचार्य कह दिया जाता है। वैसे ही आदि कालिदास के समान कविता करने वाले कवि को भी कालिदास कहने लग गये थे। इसीलिए संस्कृत में अनेक कालिदासों की उपलब्धि विभिन्न समयों में होती है। जो कुछ हो विद्वान् लोग इस कल्पना को स्वयं समझ लें।

कालिदास की प्रसिद्धि का कारण

अन्य ग्रन्थों के रहते हुए भी प्राच्य और पाश्चात्त्य देशों में कालिदास की इतनी महती प्रतिष्ठा का कारण उनका अभिज्ञानशाकुन्तल है। जब कलकत्ता हाईकोर्ट के चीफजस्टिस सर विलियममोन्स ने शाकुन्तल का अंग्रेजी में अनुवाद किया। तब उसे पढ़कर पाश्चात्त्य विद्वानों की आंखें खुलीं और कालिदास की कवि कल्पना पर मुग्ध होकर उन्होंने बड़े हर्ष के साथ कालिदास को 'भारतीय शेक्सपीयर' की उपाधि से विभूषित किया और संस्कृत की तरफ उनकी रुचि यहाँ तक बड़ी कि वेदों तक की भी छान-बीन शुरू हो गयी।

देखिए—पाश्चत्त्य विद्वानों की कैसी श्लाघनीय गुणग्राहिता है? इसी से वे इतनी शीघ्रता से अपनी इतनी उन्नति कर गये हैं। एक तरफ पाश्चात्त्य विद्वान् हैं जिन्होंने अपने देश के कवियों की तो बात ही क्या है कहीं के भी विद्वानों के गुण प्रकाश करने के लिए सदा उद्यत रहते हैं। दूसरे तरफ भारतीय विद्वान् हैं जिन्हें इस दिशा में थोड़ी भी अभिरुचि नहीं है। खेद का विषय है कि पाश्चात्त्य अनुकरण करने में प्रवीण भारतीय विद्वानों में भी विशेष अभिरुचि नहीं। कालिदास ही क्या महाराजाधिराज विक्रमादित्य, भोज, भास, भारवि, माघ, श्रीहर्ष, बाणभट्ट और प्रातःस्मरणीय स्वामी शङ्कराचार्य आदि विद्वानों का वास्तविक स्वरूप ही भारतीय विद्वानों ने अभी तक नहीं समझा है। पाश्चात्त्य विद्वान् इनका जो कुछ मूल्यांकन कर देते हैं, उन्हीं के बल पर ये भी कुछ कहने लग जाते हैं। जहां विदेशों में एक शेक्सपीयर की कृतियों की आलोचना की असंख्य पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं और बराबर लिखी भी जा रही हैं वहाँ भारतीय विद्वान् मौनावलम्बन में मस्त हैं। यह बड़े खेद का विषय है।

कालिदास की जन्मभूमि

इसी प्रकार कालिदास की जन्मभूमि तथा समय के सम्बन्ध में भी विद्वानों का बहुत बड़ा मतभेद है। वंगदेशीय विद्वान् इन्हें बंगाली मानते हैं और नवद्वीप

को इनकी जन्मभूमि बतलाते हैं। बहुत विद्वान् कहते हैं कि इनको जन्मभूमि कश्मीर है क्योंकि इन्होंने हिमालय का जैसा सुन्दर वर्णन किया है वैसा दूसरे का नहीं। कुछ लोग इन्हें पंजावी, कुछ लोग मालवीय मानते हैं। किन्तु विशिष्ट विद्वान् इन्हें उज्जयिनी निवासी कहते हैं, क्योंकि इन्होंने उज्जयिनी के लिए विशेष पक्षप त दिखलाया है जिससे इनकी जन्मभूमि उज्जयिनी मालूम पड़ती है।

इनके मेघदूत में कान्ता-विरही यक्ष रामगिरि से सीधे उत्तर अलकापुरी जाने वाले मेघ के लिए रास्ता टेढ़ा होने पर भी सकल सम्पत् सम्पन्न उज्जयिनी को देखने के लिए मेघ से आग्रह करते हुए कहता है कि यदि तुम उज्जयिनी के विशाल महलों और मृगाक्षी रमणियों के कुटिल कटाक्षों को देखने से वञ्चित रह गये तो तुम्हारा जीवन ही निष्फल है।

मेघदूत में कालिदास ने उज्जयिनी प्रदेश की भौगोलिक स्थिति का जैसा सूक्ष्म वर्णन करते हुए छोटी से छोटी नदियों का भी नाम निर्देश किया है और उनका जमकर वर्णन किया है वैसा अन्यत्र नहीं।

इस प्रकार उज्जयिनी के प्रति विशेष पक्षपात पूर्ण वर्णन तथा भौगोलिक परिचय के आधार पर यही कहा जा सकता है कि कालिदास उज्जयिनी के ही निवासी थे। पर्वतों में हिमालय, नगरियों में उज्जयिनी, देवताओं में शिव, अलंकारों में उपमा और छन्दों में मन्दाक्रान्ता कालिदास को परमप्रिय थे। इनका भौगोलिक ज्ञान बहुत ही समुन्नत है जिसका पता मेघदूत, रघुवंश में रघु की दिग्विजय और इन्दुमती के स्वयम्बर में देश-देश के राजाओं के वर्णन से स्पष्ट मालूम पड़ता है। कुमारसम्भव, मेघदूत और शकुन्तला के वर्णन से स्पष्टहै कि इन्हें हिमालय तथा उत्तर भारत जितना प्रिय था उतना विन्ध्य तथा दक्षिण भारत नहीं।

कालिदास का समय

कालिदास के समय के सम्बन्ध में प्राच्य और पाश्चात्त्य विद्वानों में बहुत बड़ा मतभेद है। विभिन्न विद्वानों ने आन्तरिक प्रमाणों के आधार पर कालिदास की सत्ता ई० पू० प्रथम से लेकर ईसा की छठी शताब्दी तक मानी है। इस सम्बन्ध में प्रधान रूप से दो मत हैं। एक प्राचीन और दूसरा अर्वाचीन। प्राचीन मत के पोषक संस्कृत के भारतीय विद्वान् हैं। और अर्वाचिन मत के अनुयायी अंग्रेजी के पाश्चात्त्य विद्वान् तथा इनके अनुकरण करने वाले कुछ भारतीय विद्वान है।

धन्वन्तरी क्षपणकामरसिंह-शङ्कुवेतालभट्ट-घट-खर्पर-कालिदासाः ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नवविक्रमस्य ॥

इस जनश्रुति के आधार पर भारतीय संस्कृत के विद्वान् मानते हैं कि कवि-वर कालिदास विद्वत्प्रिय विक्रमसंवत् के प्रवर्तक उज्जयिनी के राजा महाराजाधिराज विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में से एक प्रमुख रत्न थे जिनके बिना महाराज को एक क्षण भी अच्छा नहीं लगता था। इनकी अद्‌भुत कविकल्पना पर महाराज सदा मुग्ध रहते थे। कालिदास के ग्रन्थों से भी विक्रमादित्य के दरबार में रहने का संकेत मिलता है। शाकुन्तल की प्रस्तावना में विक्रम की अभिरूप भूयिष्ठा परिषद् में विश्व-विख्यात शकुन्तला नाटक का अभिनय करने का संकेत है। विक्रमोर्वशीय नाटक में यद्यपि राजा पुरूरवा नायक है तथापि विक्रम का स्पष्ट नामोल्लेख है "अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः" इत्यादि वचनों से भी इसकी पुष्टि होती है कि कालिदास का विक्रम से सम्बन्ध अवश्य था। रामचन्द्र महाकाव्य में तो स्पष्ट उल्लेख है कि शकाराति वीर विक्रमादित्य ने कालिदास की बहुत बड़ी ख्याति की थी। देखिए—ख्यातिं कामपि कालिदासकवयो नीताः शकारातिना। इसलिए जब तक परम्परागत इन जनश्रुतियों के खण्डन करने के लिए इसके विरुद्ध कोई प्रबल प्रमाण नहीं मिलता तब तक 'नह्यमूला जनश्रुतिः'' के आधार पर यह मानना सर्वथा न्यायसंगत है कि महाकवि कालिदास विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में एक महारत्न थे। पाश्चात्त्य विद्वानों में से केवल सर विलियम जोन्स महोदय ने भारतीय प्राचीन मत को ही प्रमाणित माना है। और अंग्रेजी में शकुन्तला का अनुवाद किया है।

कालिदास के समय के सम्बन्ध में विभिन्न मतभेद

कालिदास ने प्रथम शताब्दी के शुङ्गवंशी राजा अग्निमित्र को अपने मालविकाग्निमित्र नाटक का नायक बनाया है और षष्ठ शताब्दी के महाराज हर्षवर्द्धन के दरबार के महाकवि बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित में कालिदास की कविता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। अतः कालिदास का समय ई० पू० एक से लेकर षष्ठ शताब्दी के बीच में कहीं होना चाहिए। इस आधार पर कालिदास के समय के सम्बन्ध में प्रधान रूप से तीन मत उपस्थित होते हैं।

१—कालिदास षष्ठ शताब्दी में थे।

२—कालिदास गुप्त नरेशों के समय में थे।

३—कालिदास की सत्ता ई० पू० प्रथम शताब्दी में थी।

(१) **प्रथम मत**—इतिहास में विक्रम उपाधिधारी चार राजाओं का उल्लेख पाया जाता है जिनके समसामयिक होने के कारण कालिदास का समय विभिन्न शताब्दियों में मानना पड़ता है।

डा० हार्नली मानते हैं कि यशोधर्मन ने बलादित्य नरसिंह गुप्त की सहायता से कारूर के युद्ध में हूणवंश के प्रतापी राजा मिहिर कुछ को हराकर विक्रमादित्य की उपाधि प्राप्त की और अपने इस बड़े विजय के उपलक्ष्य में विक्रम नाम का एक नया संवत् चलाया। इसे प्राचीन सिद्ध करने की इच्छा से इसे ६०० छह सौ वर्ष पहले से ही प्रचारित किया। यह नई कल्पना डॉ० फर्गुसन साहब के मस्तिष्क की उपज थी। कालिदास के समय-निरूपण के लिए डॉ० हार्नली ने भी इसका उपयोग करते हुए यह दिखलाया है कि यशोधर्मन की राज्य सीमा से रघु की दिग्विजय का वर्णन बिल्कुल मिलता-जुलता है। और एक आलोचक ने कुमारसम्भव की देवस्तुति के सांख्यसिद्धान्त को छठी शताब्दी में लिखी गई ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका के आधार पर अवलम्बित मानकर उसके आशय ग्रहण करनेवाले कालिदास का समय भी छठी शताब्दी माना है। म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने कौतुक पूर्ण अनेक युक्तियों से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि कालिदास भारवि के बाद छठी शताब्दी में हुए हैं।

समीक्षा—हूणों को पराजित करनेवाले यशोधर्मन हूणारि कहे जा सकते हैं शकारि नहीं और न उनके शिलालेखों में कहीं विक्रम सम्वत् स्थापना की चर्चा है। ६ सौ वर्ष पहले से यशोधर्मन द्वारा विक्रम सम्वत् की स्थापना भी इतिहास के विरुद्ध है क्योंकि इतिहास प्रसिद्ध है कि मालव सम्वत् के नाम से यह सम्वत् चला आता था, विक्रमादित्य ने शकों की विजय के उपलक्ष्य में इसका नाम विक्रम सम्वत् रख दिया। दूसरी बात यह है कि ४७३ में कुमारगुप्त की प्रशस्ति के लेखक वत्स भट्टि कवि ने अपने ग्रन्थ में कालिदास के बहुत से पद्यों का अनुकरण किया है। इसलिए कालिदास को पञ्चम शताब्दी के बाद मानना अप्रामाणिक और इतिहास के विरुद्ध है।

(२) **दूसरा मत**—बहुत से विद्वानों ने सर्वतः समृद्ध शान्तिमय गुप्त-नरेशों के स्वर्णयुग मे कालिदास की सत्ता मानी है। इनमें भी पूना के प्रोफेसर के० पी० पाठक का मत है कि कालिदास स्कन्दगुप्त के समकालीन थे। क्योंकि रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में वर्णित महाराजा रघु के दिग्विजय से स्कन्दगुप्त की विजय में अधिक समानता है किन्तु डॉ० रामकृष्ण भण्डारकर, प० रामावतार

शर्मा और बहुसंख्यक पाश्चात्य विद्वान् मानते हैं कि कालिदास के आश्रयदाता गुप्तनरेशों में सबसे अधिक प्रभावशाली चन्द्रगुप्त द्वितीय थे। क्योंकि शकों को भारत से बाहर निकाल देने वाले विक्रमादित्य पदवीधारी चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्यकाल में सब तरह से शान्ति थी और भारतीय कला कौशल की उन्नति चरमसीमा तक पहुँच गई थी। कालिदास के ग्रन्थों के समान गम्भीर विचार के ग्रन्थ ऐसे ही शान्तिमय समय में स्थिर चित्त से लिखे जा सकते हैं एवं रघुवंश के छठे सर्ग के ७५ वें श्लोक में वर्णित शान्ति का समुचित समय चन्द्रगुप्त द्वितीय का ही समय था।

इसके अतिरिक्त इन्दुमती के स्वयम्बर में सम्मिलित मगधराज के लिए चन्द्रमा की जो उपमा दी गई उसमें चन्द्रगुप्त नाम का ही संकेत है।

समीक्षा—गुप्तकाल के स्वर्णयुग में कालिदास की सत्ता मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि केवल चन्द्रगुप्त द्वितीय ही विक्रमादित्य नहीं थे, किन्तु इनसे पूर्व मालवा में राज्य करने वाले विक्रमादित्य का पता इतिहास को मालूम है। दूसरी बात यह है कि यदि कालिदास गुप्तकाल में होते तो प्रयाग के स्कन्दगुप्त के स्तम्भ पर कालिदास की रचना न होकर साधारण पण्डित हरिसेन से क्यों लिखवाया जाता। इसलिए कालिदास को गुप्त काल में मानना सर्वथा असंगत है।

(३) तीसरा मत—उपर्युक्त कल्पनाओं स असन्तुष्ट होकर कुछ विद्वानों ने ६८ ईसवीय की गाथासप्तशती के पद्य में दानशील राजा विक्रमादित्य का स्पष्ट उल्लेख मिलने के आधार पर ईसा के पूर्व विक्रमादित्य की सत्ता प्रामाणिक रूप से स्थिर मानी है। इनके शकारि होने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है क्योंकि ईसा से १५० वर्ष पूर्व भारत में आने वाले शकों का पता इतिहास में पाया जाता है। अतः इन्हीं की सभा में कालिदास की सत्ता मानना युक्तियुक्त एवं प्रामाणिक प्रतीत होता है। रघुवंश के षष्ठ सर्ग के श्लोक में पाण्ड्य नरेश का वर्णन करते हुए कालिदास ने उरगपुर को उनकी राजधानी बतलाया है। उरियापुर का ही संस्कृत रूप उरगपुर जान पड़ता है। इतिहास के अनुसार प्रथम शताब्दी उरियापुर पाण्ड्यनरेशों को राजधानी थी। इसलिए कालिदास को प्रथम शताब्दी में मानना ठीक ही है।

दूसरी बात यह है कि अभिज्ञानशाकुन्तल के मङ्गलाचरण में सूचित धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्थाओं से भी मालूम पड़ता है कि कालिदास ऐसे समय में हुए थे जब कि लोग बौद्धधर्म के प्रभाव से हिन्दू देवी-देवताओं के विषय में श्रद्धा-विहीन होते जा रहे थे।

ऊर्ध्वाङ्कित पद्य में 'प्रत्यक्षाभिः' इस पद का प्रयोग करके कालिदास ने देवता विषयक अविश्वास को दूर करने का प्रयास किया है। जिस भूतभावन भगवान् शिव की जल, अग्नि, यजमान, सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, पृथ्वी और वायु इन आठ मूर्तियों का हमें सर्वदा प्रत्यक्ष दर्शन होता है। उसके विषय में अश्रद्धा कैसे हो सकती है। इसी प्रकार शकुन्तला के षष्ठ अङ्क में दुष्यन्त की अँगूठी को बेचने के समय राजपुरुषों द्वारा पकड़े जाने पर मछली मारना अपनी जाति का कर्तव्य बतलाता हुआ धीवर कहता है कि—भगवान् ने जिस जाति को जो भला बुरा काम दे दिया है वह छोड़ा नहीं जाता है? देखिए—पशुओं को मारना तो बुरा काम है, पर बड़े-बड़े दयावान् और वेद जानने वाले ब्राह्मण भी यज्ञ में पशुओं को मारते ही हैं। इस वर्णन से मालूम पड़ता है कि कालिदास ने बौद्धधर्म के प्राबल्य के कारण यज्ञों के विषय में होनेवाली हिंसाजन्य निन्दा और अश्रद्धा को दूर करने का प्रयास करते हुए आवश्यक कर्तव्य होने के कारण हिंसा होने पर भी ब्राह्मणों को यज्ञ करना जातीय धर्म बतलाया है। अतः कुलपरम्परागत जाति धर्म का त्याग करना उचित नहीं, यज्ञों का अनुष्ठान करना ब्राह्मणों के लिए सर्वथा श्रेयस्कर है। इस आधार पर हम कह सकते कि हैं कालिदास उस समय थे जब वर्ण-व्यवस्था और यज्ञादि खण्डन करने के कारण बौद्ध-धर्म के प्रति अश्रद्धा बढ़ती जा रही थी। और ब्राह्मण धर्म का अभ्युदय हो रहा था। यह समय ई० पू० द्वितीय शताब्दी के बाद सुङ्गवंशी नरेशों के बाद का है इसलिए कालिदास का जन्म प्रथम शताब्दी में मानना न्याय संगत है।

प्रथम शताब्दी में वर्तमान कनिष्क की सभा के महापण्डित बौद्धकवि अश्वघोष ने अपने बुद्धचरित मे कालिदास के बहुत से पद्यों का अनुकरण किया है। दोनों के काव्यों में अत्यधिक साम्य है। कथानक की सृष्टि और विकास, वर्णन-शैली, अलंकारों का प्रयोग, छन्दों का चयन एवं शब्दों का विन्यास दोनों कलाकारों में से एक-दूसरे से प्रभावित हैं।

जैसे – रघुवंश में—अलं महीपाल तव श्रमेण।

बुद्धचरित में—मोघं श्रमं नार्हसि मार कर्तुम् ॥

इसी प्रकार कालिदास ने रघुवंश के सप्तम सर्ग में इन्दुमती के स्वयम्बर से लौटे हुए अज को देखने के लिए उत्सुक स्त्रियों का जैसा सुन्दर वर्णन किया हैं ठीक वैसा ही वर्णन अश्वघोष ने अपने बुद्धचरित के तृतीय सर्ग में शुद्धोदन

की समृद्ध नगरी में प्रथम बार प्रवेश करते हुए राजकुमार सिद्धार्थ को देखने के लिए अत्युत्कण्ठा पूर्वक दौड़ती हुई नारियों का किया है।

इन दोनों महाकवियों के वर्णन में बहुत बड़ी समानता है। अश्वघोष द्वारा कालिदास का अनुकरण करने के बल पर यह सिद्ध होता है कि कालिदास अश्वघोष के पहले ई० पूर्व प्रथम शताब्दी में उत्पन्न महाकवि हैं।

कविता-कला

कविकुल कलाधर कविवर कालिदास को कमनीय कलेवर कोमल कविता विश्व के किस सहृदय के हृदय को आनन्द मग्न नहीं कर देती है।

इनकी कविता में प्रसाद गुण की अगाधता, माधुर्य का मधुर सन्निवेश, कोमलकान्त पदावली, उपमा की अपूर्वता, अलंकारों की रमणीयता, छन्दों की छटा और भाव-सौष्ठव आदि का पर्याप्त मात्रा में रहने के कारण इनकी कविता विश्वविख्यात बन गयी है। इनके काव्यों को जिस दृष्टि से देखा जाय उसी से काव्य-कला की कमनीयता प्रकट होती है। इनकी कविता में सरस सरल सुबोध तथा सुन्दर-सुन्दर शब्दों एवं भावों का साम्राज्य मन को मुग्ध कर देता है।

वास्तव में कालिदास की कविता में सहृदयों की तो बात ही क्या है साधारण व्यक्ति को भी जैसा प्रसादगुण का रसास्वादन, शब्द और अर्थ की निर्दोषता गुण और अलंकारों का चमत्कार मिलता है वैसा दूसरे किसी कवि में नहीं मिलता है। व्यङ्ग्यार्थ प्रतिपादन की विलक्षण शैली, रसप्रकर्ष का प्रकाशन, विस्तृत विषय का थोड़े में वर्णन, वर्ण्य विषय को सुन्दर क्रम से रखकर रोचक बनाना, स्वाभाविक भाव के द्वारा लोकोत्तरानन्द प्रदान का ढंग आदि कालिदास की कविता के स्वाभाविक गुण हैं। ध्वनिकाव्य का उत्तम गुण व्यञ्जना-व्यापार कालिदास के सभी ग्रन्थों में अनुभूत है।

कालिदास संस्कृत साहित्य के अद्वितीय महाकवि माने जाते हैं। इनकी कविता की मधुरिमा के सामने अन्य कवियों की कविता फीकी पड़ जाती है। मानव हृदय के सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों का आपने जैसा निरीक्षण किया है वैसा अन्य कवियों ने नहीं। कालिदास अन्तर्जगत् तथा बाह्यजगत् दोनों के सूक्ष्म निरीक्षक एवं पारखी कवि हैं। समष्टि से अन्य कवियों की अपेक्षा इनका उपमा अलंकार-स्वभावतः सुन्दर होता है और इनकी कविता में प्रसाद गुण सर्वत्र प्राप्त होता है। ये उपमा के तो बेजोड़ कवि माने जाते हैं। इसलिए एक आलोचक ने कहा है—

उपमा कालिदासस्य भारवेर्थगौरवम् ।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥

वाल्मीकि और व्यास के बाद विद्वत्समाज में सर्वप्रथम महाकवि के नाम से कालिदास ही प्रसिद्ध हैं। कवि में जितने गुण होने चाहिए वे सभी कालिदास में पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। इनकी नैसर्गिक रचना में पात्रानुकूल भाव भरने की अद्‌भुत कला है। प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण और मानव हृदय के अन्तर्निहित भावों को व्यक्त करने में कालिदास को स्वतः सिद्धि प्राप्त है। इसलिए विदेशों के समीक्षक विद्वान भी मुक्तकण्ठ से कालिदास की कविता कला की प्रशंसा करते हुए इनके काव्यों का आदर करते हैं। मल्लिनाथ ने तो स्पष्ट कहा है कि कालिदास की वाणी का रहस्य तो केवल तीन व्यक्तिओं ने ही समझा है एक तो विधाता ब्रह्मा, दूसरी वाग्देवी सरस्वती तथा तीसरे स्वयं कालिदास—

कालिदासगिरां सारं कलिदासः सरस्वती ।
चतुर्मुखोऽथवा ब्रह्मा विदुर्नान्ये तु मादृशाः ॥

कवि ने शकुन्तला की विदाई के समय केवल आश्रमवासी मनुष्यों को ही नहीं, किन्तु मृग, मयूर, चक्रवाक और निर्जीव लताओं को भी रुला दिया है। यह अद्‌भुत कला शकुन्तला के प्रति महर्षि कण्व का उपदेश और दुष्यन्त के प्रति सन्देश तो प्रत्येक व्यक्ति के लिए आदरणीय और आचरणीय है। तपोवन के पावन वातावरण में पली हुई शकुन्तला मानो साक्षात प्रकृति की कन्या है। वहाँ जीवों के प्रति उसका हृदय बान्धव स्नेह से आप्लुत है।

विचार

कालिदास को वैदिक-धर्म पर पूर्ण विश्वास है और ये वर्णाश्रम व्यवस्था को पूर्णरूप मानते हैं। इन्हें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पर अपार श्रद्धा है। ये सभी को त्याग और तपस्या की शिक्षा देते हैं। इनको नगर निवासी की अपेक्षा तपोवन का जीवन वहुत अच्छा लगता है—

ये आशुतोष भगवान् सदाशिव के परम उपासक महाकवि हैं। इन्होंने अपने तीनों नाटकों और रघुवंश के मङ्गलाचरण में शिव का ध्यान किया है और इनके सभी ग्रन्थों में शिव की महिमा विशेष रूप से वर्णित पाई जाती है। इनके नाटकों के भरत-वाक्य से मालूम होता है कि ये भगवान् सदाशिव से विश्व-कल्याण की कामना रखते हैं। ये व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्व देते हैं और सभी को लोककल्याणार्थ कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं।

ये आशावादी कवि हैं निराशावादी नहीं। ये सत्कार्यों के सम्पादन द्वारा परलोक मार्ग को सुगम बनाना मानव जीवन का वास्तविक सदुपयोग और अन्तिम लक्ष्य समझते हैं। अभिज्ञानशाकुन्तल के भरत-वाक्य में भगवान् सदाशिव से पुनर्जन्म को दूर करने के लिए प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

"ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ॥'

कालिदास भारतीय संस्कृति के सच्चे उपासक महाकवि थे। इसका आभास उनके काव्यों में स्थान-स्थान पर मिलता है जैसे रघुवंशमहाकाव्य में कालिदास ने रघुवंशी राजाओं को निमित्त बनाकर उदारचरित पुरुषों का स्वभाव पाठकों के समक्ष रखा है और उनकी योग्यता का वर्णन करने के बहाने कितने ही प्रकार के रमणीय उपदेश प्राणिमात्र के लिए दिये हैं। चक्रवर्ती राजा दिलीप द्वारा २२ दिन महर्षि वसिष्ठ की नन्दिनी गौ की सेवा कराकर वरदान के रूप में पुत्र प्राप्तिरूप मनोरथ सिद्धि एवं इन्द्र द्वारा दिलीप के आश्वमेधिक अश्वहरण के बाद गोमूत्र को नेत्र में लगाते ही रघुको दिव्य-दृष्टि प्राप्त करना गो-सेवा का अलौलिक फल दिखाकर संसार को गो-सेवा से अपने-अपने मनोरथों को पूर्ण करने का निर्देश किया है और गो-सेवा की अपूर्व महिमा बतलाई है। इसी प्रकार महर्षि वरतन्तु के शिष्य कौत्स को अपार धनराशि देकर अज को पुत्र रूप में प्राप्त करना ब्राह्मण-भक्ति का अनुपम उदाहरण है। राम के चरित्र जैसा भारतीय संस्कृति के आदर्श का दिग्दर्शन तो कहीं अन्यत्र उपलब्ध ही नहीं हो सकता है। भारतीयों का अनुपम आदर्श, अतिथि सत्कार और महाराज रघु द्वारा कौत्स को अपार धनराशि देकर विद्यादान के प्रति अटल श्रद्धा व्यक्त की है। कुमार-सम्भव में दिव्य नायक का दिव्य चरित्र वर्णित है, किन्तु लौकिक काम और शृङ्गार रस की सूक्ष्म भावनाओं का वर्णन करने के लिए उन्होंने मेघदूत लिखा।

कुमारसम्भव की विशेषता

विश्वविख्यात कविकुलकलाधर महाकवि कालिदास द्वारा निर्मित ग्रन्थों मे अन्यतम कुमारसम्भव एक महाकाव्य है। यह १७ सर्गों में विभक्त है। इसमें प्रधानरूप में भगवान शङ्कर तथा भगवती पार्वती के विवाह एवं कुमार (कार्तिकेय) के जन्म का सहेतुक विस्तृत वर्णन है। कुमार के जन्म की घटना के आधार पर इनका नाम कुमारसम्भव पड़ा है—

'कुमारस्य सम्भवो नामाभूतिर्महिमा चेति यस्मिन् काव्ये तत्कुमारसम्भवम् ।'

कुमारसम्भव की कथा महाभारत, ब्रह्मपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, कालिका-पुराण और शिवपुराण में मिलती है, परन्तु शिवपुराण के साथ कुमारसम्भव की कथा अधिक मिलती-जुलती है।

साहित्य की दृष्टि से कुमारसम्भव बहुत ही सुन्दर काव्य है। किन्तु रघुवंश की अपेक्षा इसकी रचना कुछ शिथिल-सी लगती है। फिर भी कितने अंशों में यह रघुवंश से बढ़कर है।

भाषा-भाव और काव्य-शैली के आधार पर कुछ लोग मानते हैं कि कुमार-सम्भव के प्रथम आठ सर्ग ही कालिदास द्वारा निर्मित हैं शेष ९ से १७ सर्ग किसी अन्य कवि की रचना है। परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि 'अस्ति कश्चिद् वाग्विशेषः' की कथा से सिद्ध है कि कालिदास ने रघुवंश के पहले ही कुमार-सम्भव को लिखा है। इसलिए पूरा ग्रन्थ कालिदास-कृत ही है।

कुमारसम्भव वैदर्भी रीति का महाकाव्य है और इसमें आरम्भ से अन्त तक प्रसादगुण ओतप्रोत है। इसमें उपमा, उत्प्रेक्षा और अर्थान्तरन्यास अलंकार विशेष रूप से मिलते हैं। इसकी भाषा सरल, सरस, सुबोध और परिष्कृत है। इसमें प्रायः प्रसिद्ध शब्दों का ही प्रयोग हुआ है। छन्दों का चुनाव भी अर्थों के अनुरूप ही हुआ है। यह शृङ्गाररसप्रधान काव्य है। इसमें तीव्र तपस्या के द्वारा पार्वती के शिव विषयक मनोरथ की सफलता का वर्णन करते हुए कविवर कालिदास ने तपस्या में अपना अटल विश्वास व्यक्त किया है। इनका मत है कि जो वस्तु किसी प्रकार से भी प्राप्त नहीं हो सकती, वह तपस्या द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है।

यद्दुष्करं यद् दुरापं यद् दुर्गं यच्च दुस्तरम्।
तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमः॥

उग्र तपस्या द्वारा प्राप्त शक्ति से उद्दण्ड होकर संसार को दुःख देनेवाले वज्रनाभ के पुत्र दुर्दान्त तारकासुर को मारने के लिए देवताओं का प्रयास विश्वकल्याण की भावना की ओर संकेत करता है। धन्य हैं कविकर कालिदास और धन्य है उनका यह महाकाव्य।

महाशिवरात्रि
२०३२

विनीत—
श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी

कथासार

प्रथम सर्ग

प्रथम सर्ग की कथा का आरम्भ हिमालय के वर्णन से होता है। बाद पर्वत-राज हिमालय की धर्मपत्नी मेना का गर्भ से मेनाक पर्वत तथा पार्वती के जन्म का वर्णन है। पूर्व जन्म में पार्वती का नाम सती था और वे दक्ष प्रजापति की पुत्री तथा शिव की पत्नी हुई थीं। यज्ञ में पिता द्वारा पति के अपमान से दुःखी होकर शरीर का त्याग कर दिया था। पार्वती के बाल्य-यौवन के विशद वर्णन के बाद विवाह के योग्य हो जाने पर एक दिन देवर्षि नारद हिमालय के पास आते हैं और पार्वती को देखकर कहते हैं कि यह तुम्हारी पुत्री भगवान् शङ्कर की पत्नी बनेगी। यह सुनकर हिमालय ने विजया और मालिनी नाम वाली दो सखियों के साथ पार्वती को शिव की सेवा के लिये भेजते हैं, जब कि वे प्रथम-पत्नी सती के शरीर त्याग से विरक्त होकर तपःसमाधि में संलग्न थे। पार्वती सखियों के साथ वहाँ प्रसन्नतापूर्वक नियम से शिव की सेवा करने लगती हैं।

द्वितीय सर्ग

द्वितीय सर्ग में तारकासुर के उपद्रव से दुःखी होकर सभी देवता ब्रह्मा जी के पास जाकर उनकी स्तुति करते हैं। बाद ब्रह्मा जी प्रत्येक देवताओं की दय-नीय दशा पर आश्चर्य प्रगट करते हुए उनसे उनके दुःख का कारण पूछते हैं। उत्तर में तारकासुर कृत उनकी कष्टकथा को सुनकर कहते हैं कि—

इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीर्नेत एवार्हति क्षयम्।
विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्॥

इसलिए आप लोग ऐसा प्रयत्न करें कि जिससे भगवान् शिव का पार्वती के साथ विवाह हो जाय, वही शिव के योग्य वधू है। उनसे कार्तिकेय नाम के जो पुत्र होंगे वे ही तारकासुर को मार कर आपलोगों के दुःख को दूर कर सकते हैं। इस प्रकार आदेश देकर ब्रह्मा जी अन्तर्हित हो जाते हैं और देवता लोग अपने-अपने स्थान पर चले जाते वे। बाद में देवराज इन्द्र ने इस कार्य में सहायता लेने के लिए कामदेव का स्मरण करते हैं। स्मरण करते ही वह अपने धनुष को कण्ठ में लटकाये हुए अपने प्रिय मित्र वसन्त के साथ हाथ जोड़कर इन्द्र के पास उपस्थित हो जाता है :

॥ श्रीः ॥

कुमारसम्भवम्

प्रथमः सर्गः

निरालम्बावलम्बे ते हेरम्बचरणाम्बुजे ।
समालम्बे यदालम्बाल्लीयन्ते विघ्नराशयः ॥ १ ॥
अमन्दानन्दसन्दोहं सेन्दिरं नन्दनन्दनम् ।
वन्दारुजनमन्दारं वन्दे मन्दत्वहानये ॥ २ ॥
क्षतये विघ्नव्यूहानां प्राप्तये चार्थसम्पदाम् ।
गीर्वाणगणगीतां तां वीणापाणिं नतोऽस्म्यहम् ॥ ३ ॥
गुरून्नत्वा महाभागान् देवांश्च निखिलान् मुहुः ।
कुमारसम्भवव्याख्यां कुर्वे छात्रमनोरमाम् ॥ ४ ॥

कविकुलमुकुटालङ्कृतिर्नितान्तकान्तकवितासृतिर्विश्वविमोहनासेचनकृतिः कृती वाचामधिदेवतायाः विलासस्तत्रभवान् कालिदासः सत्काव्यस्य सर्वाभीष्टचतुर्वर्गफललाभहेतुत्वेन जगदम्बाजगदीशयोर्मञ्जुलमङ्गललीलाललितं कुमारसम्भवाभिधं महाकाव्यं चिकीर्षुः "आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वाऽपि तन्मुखम्" इति शासनाद् आदौ वक्ष्यमाणविषयानुगुणं वस्तु निर्दिशति—

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः ।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥ १ ॥

अन्वयः—उत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य पृथिव्याः मानदण्डः इव स्थितः ।

व्याख्या—उत्तरस्याम्=कौबेर्य्याम् उदीच्यामित्यर्थः, दिशि=काष्ठायाम्, देवतात्मा=देवताधिष्ठितः, हिमालयो नाम=हिमालय इति नाम्ना प्रतीतः, नगाधिराजः=गिरिराजः, पूर्वापरौ—पूर्वपश्चिमौ, प्राच्यप्रतीच्यावित्यर्थः, तोयनिधी=सागरौ, वगाह्य=व्याप्य, पृथिव्याः=अवनेः, मानदण्ड इव=दैर्घ्यपरिच्छेदकदण्डवत्, स्थितः=अवस्थितः, अस्ति=विद्यते ।

व्युत्पत्त्यादयः—ऊर्ध्वं तरन्ति यस्यां सा उत्तरा तस्याम् 'उत्तरा दिगुदीची स्यात्' इत्यमरः। दिशति + अवकाशमिति दिक् तस्याम्। 'दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः' इत्यमरः। दीव्यतीति देवः। देव एव देवता। देवता आत्मा अधिष्ठाता यस्य सः। न गच्छन्तीति नगाः। राजते इति राजा स्वामी। अधिकः राजा—अधिराजः, नगानां शैलानाम् अधिराजः नगाधिराजः। 'शैलवृक्षौ नगावगौ' इत्यमरः। हिनोति वर्द्धते इति हिमम्, आलीयतेऽत्रेति आलयः। तस्य आलयः निकायः गृहमित्यर्थः। 'निकायनिलयालयाः' इति गृहपर्यायेष्वमरः। पूर्वश्च अपरश्च पूर्वापरौ। तौतीति तोयम्, तोयं निधीयत ययोस्तौ तोयनिधी। वगाह्य अवगाह्य। प्रथते इति पृथिवी तस्याः। मीयतेऽनेन तन्मानं तच्चासौ दण्डश्च स इव स्थितः। हिमवतः पूर्वपश्चिमसमुद्रव्यापित्वं प्रसिद्धमेव। ब्रह्माण्डपुराणे च प्रतिपादितम्—

कैलासो हिमवांश्चैव दक्षिणे वर्षपर्वतौ।
पूर्वपश्चिमगावेतावर्णवान्तरुपस्थितौ ॥ इति ॥

'उत्तरस्यां दिशि' इत्यनेनास्य देवभूमित्वम्, 'देवतात्मा' इत्यनेन केवलाचलत्वाभावः सूच्यते। तेनास्य मेनकापरिणयादिपार्वतीजननादिचेतनव्यवहारयोग्यतायां न कापि विप्रतिपत्तिः। अत्र प्रकृतस्य हिमालयस्य पूर्वापरोदधिव्याप्तिसाम्यान्मान दण्डत्वेनोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षालङ्कारः। तदुक्तं काव्यप्रकाशे 'सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्'। इति। अत्रेवशब्द उत्प्रेक्षावाचकः—'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः। उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः ॥' इति दण्डिवचनात्। पद्येऽस्मिन्—उपजातिवृत्तम्। अत्र सर्गे उपजातिवृत्तस्यैव बाहुल्यम्। क्वचिदिन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रे च। वृत्तरत्नाकरोक्तानि तेषां लक्षणानि—'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः।' 'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ।' एतयोरेव इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोर्मिथः साङ्कर्याद् भवत्युपजातिः—'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः।' इति।

भावार्थः—भारतस्योत्तरदिग्भागेऽधिष्ठातृदेवेनाधिष्ठतो हिमानीपरिवृतत्वात् हिमालय इति नाम्ना लोके प्रतीतिमुपगतः निषधविन्ध्यादिसकलशैलानामधिपः पूर्वसागरादारभ्य पश्चिमसागरपर्यन्तेन धरण्या दैर्घ्यपरिच्छेदकदण्ड इव स्थितः विद्यते। मेयभूताऽवनिः यावती विस्तीर्णा मानदण्डभूतोऽयमपि तावान् विस्तीर्ण इत्यर्थः, मेयमिति मानं भवतीति प्रसिद्धेः।

भाषार्थ—भारतवर्ष के उत्तरी छोर पर अधिष्ठाता देवता से अधिष्ठित

हिमालय नाम का सब पर्वतों का स्वामी पूर्व सागर से पश्चिम सागर तक फैल कर पृथिवी की लम्बाई नापने वाले मानदण्ड की तरह स्थित है ।। १ ।।

इत आरभ्य षोडशपद्यैर्हिमवन्तं वर्णयति तत्र प्रथमं तस्य नगाधिराजत्वं साधयितुमाह—

यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे ।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम् ॥ २ ॥

अन्वयः—सर्वशैलाः य वत्सं परिकल्प्य दोहदक्षे मेरौ दोग्धरि स्थिते (सति) पृथूपदिष्टां (गोरूपधारिणीं) धरित्रीं भास्वन्ति रत्नानि महौपधीः च (क्षीरत्वेन परिणताः) दुदुहुः ।

व्याख्या—सर्वशैलाः=निखिलाचलाः, यम्=हिमवन्तम्, वत्सम्=शकृत्करिं तर्णकमित्यर्थः, परिकल्प्य = कृत्वा, दोहदक्षे=दोहनचतुरे, मेरौ=हेमाद्रौ, दोग्धरि=दोहके, स्थिते=विद्यमाने सति 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' इति सप्तमी, पृथूपदिष्टाम्=वैन्योपदिष्टाम् गोरूपामिति शेषः, धरित्रीम्=धरणिम्, भास्वन्ति ('नपुंसकमनपुंसकेन—'इत्यादिना नपुंसकैकशेषे महौषधीः इत्यनेनापीदं विशेषणं योजनीयम्') रत्नानि=मणिजातानि स्वजातिश्रेष्ठवस्तूनि च, भास्वतीः= द्युतिमतीः, महौषधीः च=सञ्जीवनौषधीरपि, क्षीररूपेण परिणताः इति शेषः, दुदुहुः=दुहन्ति स्म ।

व्युत्पत्त्यादयः—प्रचुराः शिलाः सन्त्येषु ते शैलाः अचलाः 'अद्रिगोत्र-गिरिग्रावाचलशैलशिलोच्चयाः' इत्यमरः । सर्वे च ते शैलाः सर्वशैलाः । वदतीति वत्सस्तम् 'शकृत्करिस्तु वत्सः स्यात्' इत्यमरः । दोहनं दोहः दोहनक्रिया तस्मिन् दक्षः, दक्षते इति दक्षः, तस्मिन् । मिनोति उच्चत्वाद् ज्योतींषि इति मेरुस्त-स्मिन् । 'मेरुः सुमेरुर्हेमाद्रिः' इत्यमरः। दोग्धीति दोग्धा तस्मिन्। पृथुना उपदिष्टा पृथूपदिष्टा तां राजमणिना वैन्येन स्वीयदृढशासनेन विवशीकृतामिति यावत् । गोरूपधारिणीम् धरित्री धरति विश्वमिति धरित्री ताम् 'धरा धरित्री धरणिः' इत्यमरः। भासो द्युतयः सन्त्येषु तानि भास्वन्ति 'भाश्छविद्युतिदीप्तयः' इत्यमरः। रत्नानि रमन्ते येषु तानि रत्नानि विविधान् मणीन् स्वजातिश्रेष्ठपदार्थांश्च 'रत्नं स्वजातिश्रेष्ठे स्यान्मणौ' इति हैमः । भास्वतीः भासो द्युतयः सन्ति यासु ताः भास्वत्यस्ताः महौषधीः ओषः प्लोषो दीप्तिर्वा धीयते यासु ता ओषध्यः मह्यन्ते पूज्यन्ते इति महत्यश्च ता ओषध्यो महौषध्यस्ताः सञ्जीवन्याद्याः 'ओषध्यः

फलपाकान्ताः' इत्यमरः। दुग्धरूपेण परिणताः। दुदुहुः दोग्धेः। मेरौ मुख्ये दोग्धरि सत्यपि दोहनसामर्थ्यात् फलभागित्वाच्च सर्वशैलानां पञ्चभिर्हलैः कर्षति ग्रामणीरितिवत् कर्तृत्वेनैव निर्देशो न प्रयोजकत्वेन। दुह् धातोः स्वरितेत्त्वेऽपि कर्त्रभिप्रायाविवक्षायां परस्मैपदम्। अत्र प्रस्तुतानामेव वनौषधिरत्नानां दोहनरूपसमानधर्मसम्बन्धात् तुल्ययोगिताऽलङ्कारः। प्रस्तुतयोरेवाप्रस्तुतयोरेव वा समानधर्माभिसम्बन्धे तुल्ययोगिता भवतीति काव्यप्रकाशादौ स्पष्टम्। वृत्तं पूर्ववत्।

पुरा खलु विष्णुद्रोही विप्रावमन्ता दुश्शीलो वेनो नामाधर्मनिरतो राजा बभूव। वेदविरोधिभिस्तत्कर्मभिर्नानोपद्रवहेतुभिः पीडिता मुनयस्तमनाशयन्। गतासीस्तस्य नृपस्य ते मुनयो भूयो दक्षिणबाहुं ममन्थुः। ततो नारायणांशभूत आद्यः क्षितीश्वरो जातः। निखिलशुभलक्षणसम्पन्नस्य तस्य मुनिभिः राज्याभिषेको विहितः। महामहिमाशालिनः पुरुषधौरेयस्य तस्य राष्ट्रे अन्नकष्टपीडिताः प्रजाः क्षुत्क्षामदेहास्तदभ्यर्णमभ्येत्य स्वकष्टं तस्मै न्यवेदयन्। ततो गृहीतशरासनः स नृपशेखरः भूमिं स्वशरव्यतामनयत्। सा च तद्भयाद् गौर्भूत्वा मृगयुधाविता मृगीवोपाद्रवत्। अरुणेक्षणो भूपालस्तामन्वधावत्। वैन्यात् त्राणमलभमाना धरा तमेव शरणं गत्वा प्रार्थितवती। तत्प्रार्थनासन्तुष्टहृदयः स तद्वचनादेव प्रजाभिरपेक्षितानां सकलपदार्थानां धरणेर्दोहनं वत्सादिकल्पनापुरस्सरमन्वतिष्ठत्। सर्वे स्ववत्समुख्येन स्वे स्वे गात्रे पृथक् पयः। सर्वकामदुघां पृथ्वीं दुदुहुः पृथुभाविताम्। गिरयोऽपि हिमवन्तं वत्सं विधाय स्वसानुषु नानाधातून् महौषधींश्च दुदुहुरिति भागवती कथाऽत्राऽनुसन्धेया।

भावार्थः—सर्वे गिरयः यं हिमालयं वत्सं विधाय दोहनक्रियाचतुर मेरुं मुख्यं दोहकं कृत्वा पृथुना नृपतिनोपदेशतो दित्सुताभावमापादितां गोरूपधरां धरणिं क्षीररूपेण परिणताम् पद्मरागादिविविधमणीन् स्वजातिश्रेष्ठवस्तूनि सञ्जीवनादिमहौषधीश्च दुदुहुः।

भावार्थ—सब पर्वतों ने हिमालय को बछड़ा बनाकर और दूहने में निपुण मेरु पर्वत को मुख्य दोहक चुनकर (नारायणांश से उत्पन्न सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ राजा) पृथु द्वारा अपने अन्दर छिपाई गई सम्पूर्ण वस्तुओं को जनता के हितार्थ प्रकट करने के लिए विवश की गई गोरूपधारिणी पृथ्वी से चमचमा रहे रत्नों, श्रेष्ठ-श्रेष्ठ वस्तुओं और संजीवनी आदि महौषधियों को, जो दूध के रूप में परिणत हुई थीं, दूहा ॥ २ ॥

ननु रत्नादिसमृद्धिमतोऽपि हिमदूषणदूषितत्वेन भृशमनभिगमनीयत्वात् सर्वमपि सौभाग्यं तस्य श्वित्रिण इव निष्फलमित्याशङ्क्याह—

अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम् ।
एको हि दोषो गुणसंनिपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ॥ ३ ॥

अन्वयः—अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं सौभाग्यविलोपि न जातं हि गुणसंनिपाते एकः दोषः किरणेषु अङ्कः इव निमज्जति ।

व्याख्या—अनन्तरत्नप्रभवस्य-अमितरत्नादिश्रेष्ठवस्तुजनकस्य, यस्य हिमवतः, हिमम्=तुहिनम् (कर्तृपदमिदम्), सौभाग्यविलोपि=रामणीयकघातकम्, न जातम्=नाभवत् । हि=यस्माद् हेतोः, गुणसंनिपाते=गुणगणे, एकः दोषः=केवलं दूषणम्, इन्दोः=चन्द्रमसः, किरणेषु=मयूखेषु, अङ्क इव=कलङ्क इव, निमज्जति=तिरोभवति, अन्तर्लीनो भवतीत्यर्थः ।

व्युत्पत्त्यादयः—अनन्तरत्नप्रभवस्य=न विद्यते अन्तो येषां तानि अनन्तानि अमितानि । तानि च तानि रत्नानि श्रेष्ठवस्तूनि तेषां प्रभवः भवत्यस्मादिति । प्रभव उत्पत्तिस्थलं जनक इति यावत् । 'रत्नं स्वजातिश्रेष्ठेऽपि' इत्यमरः । भज्यते सेव्यते जनैरिति भगम् । 'भगं श्रीकाममाहात्म्यवीर्ययत्नार्ककीर्तिषु' इत्यमरः । शोभनं भगं श्रीः यस्य सः सुभगः तस्य भावः सौभाग्यं सौन्दर्यम् । तद् विलुम्पतीति सौभाग्यविलोपि । अजनीति जातम् । गुण्यन्ते आमन्त्र्यन्ते जनैरिति गुणाः दानदयादाक्षिण्यसौन्दर्यादयः । "गुणो मौर्व्यामप्रधाने रूपादौ सूद इन्द्रिये । त्यागशौर्यादिसत्त्वादिसन्ध्याद्यावृत्तिरज्जुषु । शुक्लादावपि बुद्ध्यां च" इति मेदिनी । सन्निपतनं सन्निपातः संघातगुणानां सन्निपातः गुणसन्निपातस्तस्मिन् सौन्दर्यादिगुणसमूहे एकः केवलः दोषो दूषणम् उनत्तीति इन्दुः 'चन्द्रः हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्र इन्दुः' इत्यमरः । तस्य किरणेषु कीर्यन्ते विक्षिप्यन्ते इति किरणा मयूखाः । 'किरणोऽस्रमयूखांशुगभस्तिघृणिरश्मयः' इत्यमरः । तेषु अङ्क इव, कलङ्क इव अङ्क्यतेऽनेनेति अङ्कः 'कलङ्काङ्कौ लाञ्छनं च' इत्यमरः । निमज्जति तिरोभवति अन्तर्लीयते इत्यर्थः । नहि स्वल्पो दोषोऽनन्तगुणगणाभिभावको भवति किन्तु चन्द्रस्य रश्मिषु कलङ्क इव भूरिगुणैस्तिरस्क्रियते । 'अत्र इन्दोः किरणेष्विवाङ्कः' इत्युपमाऽलङ्कारः । तेनानुप्राणितोऽर्थान्तरन्यासः, उत्तरार्द्धेन सामान्यवचनेन पूर्वार्द्धस्य विशेषवचनस्य' समर्थनात् । तदुक्तं काव्यप्रकाशे—"सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते । यत् सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ॥" इति ।

भावार्थः—तुषारः (तुषारजनितं शैत्यम्) अपरिमितरत्नानामाकरस्य हिम-

वतः सौन्दर्यंनाशको नाभूत् यथा जगदाह्लादकस्य चन्द्रमसः किरणेषु कलङ्कस्तिरो-भवति तथैव गुणसमुदाये एको दोषोऽपि अन्तर्लीयते ।

भावार्थ—हिमालय में अनन्त उत्तमोत्तम वस्तुएँ पैदा होती हैं, इसलिए बर्फ उसकी सुन्दरता में किसी प्रकार की ठेस नहीं पहुँचा सका, क्योंकि प्रचुर गुणों में एक आध दोष वैसे ही छिप जाता है, जैसे कि चन्द्रमा की किरणों में कलङ्क ॥ ३ ॥

यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनानां सम्पादयित्रीं शिखरैर्बिभर्ति ।
बलाहकच्छेदविभक्तरागामकालसन्ध्यामिव धातुमत्ताम् ॥ ४ ॥

अन्वयः—च यः अप्सरोविभ्रमण्डनानां सम्पदायित्रीं बलाहकच्छेदविभक्त-रागां धातुमत्ताम् अकालसन्ध्याम् इव शिखरैः बिभर्ति ।

व्याख्या—च = किञ्च, यः = हिमालयः अप्सरोविभ्रममण्डनानाम् = स्ववार-विलासिनीविलासविभूषणानाम्, सम्पादयित्रीम्=विधात्रीम्, बलाहकच्छेदविभक्त-रागाम् = जलधरखण्डसंक्रमितरागाम्, धातुमत्ताम् = गेरिकादिधातुयोगिताम्, अप्सरोविभ्रममण्डनानाम्=अमरवारवनिताविलासालङ्करणानाम्, सम्पादयित्रीम्= कर्त्रीम्, बलाहकच्छेदविभक्तरागाम्=जलधरशकलविभक्तरक्तताम्, अकालसन्ध्या-मिव=अनवसरप्राप्तसन्ध्यामिव, शिखरैः=शृङ्गैः; बिभर्ति=धत्ते ।

व्युत्पत्त्यादयः—अद्भ्यः सरन्तीति अप्सरसः । स्त्रियां बहुष्वप्सरसः स्ववेंश्या उर्वशीमुखाः ।' इत्यमरः बहुषु इति प्रायोवादः । 'स्त्रियां बहुष्वप्सरसः स्यादे-कत्वेऽप्सरा अपि इति शब्दार्णवात्, 'अनचि च' इति सूत्रे 'अप्सरा' इति भाष्य-प्रयोगाच्च । विभ्रमणं विभ्रमः । 'स्त्रीणां विलासविब्वोकविभ्रमा ललितं तथा । हेलालीलेत्यमी हावाः क्रियाः शृङ्गारभावजाः' इत्यमरः । मण्ड्यते एभिस्तानि मण्डनानि, विभ्रमस्य मण्डनानि विभ्रममण्डनानि, अप्सरसां विभ्रममण्डनानि अप्सरोविभ्रममण्डनानि तेषाम् सम्पादयतीति सम्पादयित्री ताम् । वहन्तीति वाहकाः वारीणां वाहका बलाहकाः । 'अभ्रं मेघो वारिवाहः स्तनयित्नुर्बलाहकः' इत्यमरः । छिद्यन्ते इति च्छेदाः खण्डाः बलाहकानां छेदेषु विभक्तः रागो यस्यां सा । धातवो विद्यन्ते यस्मिन्नसी धातुमान् । तस्य भावः धातुमत्ता ताम् । न कालः अकालः तस्मिन् सन्ध्या ताम् । शिखाः सन्त्येषां तानि शिखराणि । तैः 'कूटोऽस्त्री शिखरः शृङ्गम्' इत्यमरः । सन्ध्याशब्दस्य जातिवाचित्वाद् जात्यु-त्प्रेक्षालङ्कारः तदुक्तं काव्यप्रकाशे–'सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्' इति ।

भावार्थः—किञ्च हिमवान् सुराङ्गनानां विलासालङ्कारणानां विधात्रीं मेघ-

खण्डे संक्रमितरागां सिन्दूरगैरिकादिधातुसम्पत्ति देवाङ्गनाविलासालङ्करणसाधिकां मेघशकलसंक्रमितलौहित्याम् अनियतकालप्राप्तसन्ध्यामिव शिखरैर्दधाति ।

भावार्थ—जो हिमाचल अप्सराओं के विलास के अलङ्कारों का सम्पादन करने वाली तथा आस पास संचार करने वाले मेघों के टुकड़ों को अपनी लालिमा से रंगने वाली सिन्दूरादि धातुसम्पत्ति को—देवाङ्गनाओं के विलास के अलङ्कारों का सम्पादन करने वाली और मेघखण्डों में लालिमा का संचार करने वाली सूर्यास्त समय से अतिरिक्त समय में (असमय में) प्राप्त सन्ध्या के समान—शिखरों से धारण करता है ।। ४ ।।

अत्र सर्वर्तूनामानन्दमनुभवन्ति सिद्धादय इत्याह—

आमेखलं संचरतां घनानां छायामधःसानुगतां निषेव्य ।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते शृङ्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः ।। ५ ।।

अन्वयः—सिद्धाः आमेखलं संचरतां घनानाम् अधःसानुगतां छायां निषेव्य वृष्टिभिः उद्वेजिताः सन्तः यस्य आतपवन्ति शृङ्गाणि आश्रयन्ते ।

व्याख्या—सिद्धाः=प्राप्ताणिमादिसिद्धयः विश्वावस्वादिदेवयोनिविशेषा वा, आमेखलम्=नितम्बपर्यन्तम्, संचरताम्=संचारमनुतिष्ठताम्, घनानाम्=वारिदानाम्, अधःसानुगताम्=अधस्तटगताम्, छायाम्=अनातपम्, निषेव्य=नितरां (निदाघतापोपशमपर्यन्तम्) सेवित्वा, वृष्टिभिः=वर्षैः, उद्वेजिता=क्लेशिताः (सन्त) यस्य=हिमालयस्य, आतपवन्ति=आतपसहितानि, शृङ्गाणि=शिखराणि, आश्रयन्ते=भजन्ते ।

व्युत्पत्त्यादयः—सिद्धिर्विद्यते येषान्ते सिद्धाः 'पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः' इत्यमरः । मखं गतिं घ्नन्तीति मेखलाः मेखलाभ्य आ आमेखलम् । 'मेलखाऽद्रिनितम्बे स्याद् रशनाखड्गबन्धयोः' इति हैमः । संचरन्तीति संचरन्तस्तेषां संचरताम् । हन्यन्ते वायुभिरिति घनास्तेषाम् । 'घनजीमूत मुदिरजलमुग्धूमयोनयः' इति मेघपर्यायेष्वमरः । अधो निम्नदेशे स्थितानि सानूनि अधः-सानूनि । छ्यतीति च्छाया ताम् । 'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः ।' इत्यमरः । आतपतीति आतपः । आतपो विद्यते येषां तानि आतपवन्ति । 'प्रकाशो द्योत आतपः' इत्यमरः । शृणन्तीति शृङ्गाणि । 'कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गम्' इत्यमरः । वर्षणानि वृष्टयस्ताभिः वृष्टिभिः । 'वृष्टिवर्षम्' इत्यमरः । अतिक्रान्तमेघमण्डलमस्योन्नत्यमिति भावः अत्र वृष्टिभिरुद्वेजितत्वात-

पवत्त्वयोः श्रृङ्गाश्रयणे हेतुत्वेनोपन्यस्तत्वात्काव्यलिङ्गमलङ्कारः। तदुक्तं दर्पणे—
'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्।' इति।

भावार्थः—गगनचुम्बिनो हिमाद्रेः मध्यदेशे एव संचरन्ति मेघा न खलूपरितनशिखरेषु अत आतपखिन्नाः सिद्धा मेघमण्डलानामधस्तात् स्थितेषु सानुषु छायां निषेवन्ते यदामेघा वर्षन्ति वृष्टयश्च क्लेशकारिण्यो भवन्ति तदा सातपानि शृङ्गाणि समाश्रयन्ते।

भाषार्थ—हिमालय बहुत ऊँचा है, इसलिए मेघों का संचार उसके मध्य तक ही सीमित है। ऊपर के शिखरों पर वे नहीं जा सकते, इसलिए ऊपर सिद्धों को जब गर्मी प्रतीत होती है, तब वे मेघों के नीचे स्थित उपत्यका के तटों में छाया का खूब सेवन करते हैं। जब वृष्टि होने लगती है और वृष्टि से उन्हें क्लेश प्रतीत होने लगता है, तब घाम वाले शिखरों में चले जाते हैं। इसमें एक ही समय गर्मी, जाड़ा और वर्षा का आनन्द प्राप्त होता॥ ५॥

सिंहघातिनां व्याधानां मुक्ताकराणां गजानामिहैव प्राचुर्यमित्याह—

पदं तुषारस्रुतिधौतरक्तं यस्मिन्नदृष्ट्वाऽपि हतद्विपानाम्।
विदन्ति मार्गं नखरन्ध्रमुक्तैर्मुक्ताफलैः केसरिणां किराताः॥ ६॥

अन्वयः—यस्मिन् किराताः तुषारस्रुतिधौतरक्तम्, हतद्विपानां केसरिणां पदम् अदृष्ट्वा अपि नखरन्ध्रमुक्तैः मुक्ताफलैः मार्गं विदन्ति।

व्याख्या—यस्मिन्=हिमाद्रौ, किराताः=शबराः व्याधा इत्यर्थः। तुषारस्रुतिधौतरक्तम्=हिमनिष्यन्दक्षालितरुधिरम्, हतद्विपानां=मारितकरिणां, केसरिणां=सिंहानाम्, पदम्=पादप्रक्षेपस्थानम्, अदृष्ट्वा=न निरीक्ष्य अपि, नखरन्ध्रमुक्तैः=नखरान्तरालस्खलितैः, मुक्ताफलैः=गजमौक्तिकैः, मार्गम्=पन्थानम्, विदन्ति=जानन्ति।

व्युत्पत्त्यादयः—किरन्तीति किराः, अतन्तीति अताः। किराश्च तेऽताश्चेति किराताः। किरं शूकरमतन्तीति किराताः इति वा। 'भेदाः किरातशबरपुलिन्दा म्लेच्छजातयः' इत्यमरः। स्रवणं स्रुतिः। तोषयतीति तुषारः तुषारस्य स्रुत्या धौतं तुषारस्रुतिधौतं तथा रक्त यस्य तत् तुषारश्रुतिधौतरक्तं तत्। अतो दुर्ज्ञेयमिति भावः। 'तुषारस्तुहिनं हिमम्' इत्यमरः। द्वाभ्यां पिबन्तीति द्विपाः। हता द्विपा यैस्ते हतद्विपास्तेषां हतद्विपानाम्। केसरिणां केसराः सन्त्येषां ते केसरिणस्तेषाम्। 'सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यो हर्यक्षः केसरी हरिः' इत्यमरः। पदतीति पदम्। 'पदं शब्दे च वाक्ये च व्यवसायोपदेशयोः। पादतच्चिह्नयोः स्थानत्राणयोरङ्कवस्तुनोः।' इति

विश्वः । न दृष्ट्वा अदृष्ट्वा अत्र ल्यपो भाव्यमिति नाशङ्कनीयम्, ल्यप्विधायक-सूत्रे 'अनञ्पूर्वे' इत्युक्तेः । नखरन्ध्रमुक्तैः नखानां रन्ध्राणि नखरन्ध्राणि 'नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । 'रन्ध्रं तु दूषणे छिद्रे' इति विश्वः । नखरन्ध्रेभ्यो मुक्तैः । मुक्ता एव फलानि मुक्ताफलानि तैः । अत्रोदात्तमलङ्कारः । दर्शनकाल एवादाय रक्षितव्यानां मौक्तिकानां सिंहमार्गप्रदर्शनोपक्षीणत्वप्रतिपादनेन मुक्तासम्पदामुपादानात् । तदुक्तं—

लोकातिशयसम्पत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते ॥ इति ॥

भावार्थः—यत्रादौ व्याधा हिमस्रवणेन क्षालितपादचिह्नं हतनागानां सिंहानां पदं यद्यपि न पश्यन्ति तथापि तेषां नखरन्ध्रनिर्गतैर्मौक्तिकैस्तेषां मार्गं जानन्ति ।

भाषार्थ—हिमाचल में सिंहघाती व्याध निरन्तर वर्फ का जल बहने के कारण धुले हुए हाथियों का शिकार करके गये हुए शेरों के पदचिह्न तो नहीं देख पाते फिर भी उनके नखों से गिरी हुई गजमुक्ताओं से उनके मार्ग का पता पा जाते हैं ॥ ६ ॥

न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः ।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनङ्गलेखक्रिययोपयोगम् ॥ ७ ॥

अन्वयः—यत्र धातुरसेन न्यस्ताक्षराः कुञ्जरबिन्दुशोणाः भूर्जत्वचः विद्याधर-सुन्दरीणाम् अनङ्गलेखक्रियया उपयोगं व्रजन्ति ।

व्याख्या—यत्र=यस्मिन् हिमाद्रौ, धातुरसेन=सिन्दूरमनःशिलादिधातुद्रवेण, न्यस्ताक्षराः=लिखितवर्णाः, (अत एव) कुञ्जरबिन्दुशोणाः=करिकाग्रस्थित-बिन्दुजाललोहिताः, लिखितांशेषु इति शेषः । भूर्जत्वचः=चर्मवल्कलानि, विद्या-धरसुन्दरीणाम्=विद्याधरवनितानाम्, अनङ्गलेखक्रियया=कामपत्रलेखनेन, उप-योगम्=उपकृतिम्, व्रजन्ति=गच्छन्ति ।

व्युत्पत्त्यादयः—दधति शोभामिति धातवः 'सुवर्णरूप्यताम्राणि हरितालं मनः-शिला । गैरिकाञ्जनकासीससीसलोहः सहिङ्गुलाः । गन्धकोऽभ्रकमित्याद्या धातवो गिरिसंभवाः ॥'' इत्यभिधानात् । धातूनां रसः । रस्यते इति रसः रसयतेः । 'रसो गन्धरसे जले । शृङ्गारादौ विषे वीर्ये तिक्तादौ द्रवरागयोः । देहधातुप्रभेदे च पारद-स्वादयोः पुमान् ।।' इति मेदिनी । तेन धातुरसेन । न क्षरन्तीत्यक्षराणि । न्यस्तानि अक्षराणि यासु ताः न्यस्ताक्षराः । भूर्जत्वचः ऊर्जनमूर्जः बलमस्य भूर्जः, भूर्जस्य त्वचः त्वचन्ति सवृण्वन्तीति त्वचः । 'त्वक् स्त्री वल्कं वल्कलमस्त्रियाम्' इत्यमरः । कुञ्जरबिन्दुशोणा अतिशयितः कुञ्जो हनुरस्येतिकुञ्जरः । 'कुञ्जरो वारणः करी'

इत्यमरः। तस्य बिन्दवः शरीरेऽवस्थाविशेषभाविनः पद्मकनामानः। 'पद्मकं बिन्दुजालकम्' इत्यमरः। त इव शोणा लोहिताः। 'रोहितो लोहितो रक्तःशोणः कोकनदच्छविः' इत्यमरः। धरन्तीति धरः विद्यानां गुटिकाञ्जनादिविषयिणीनां धरा विद्याधराः तेषां सुन्दर्य्यः, सु अतीव उन्दन्तीति सुन्दर्य्यः। 'सुन्दरी रमणी रामा' इति स्त्रीणां भेदेषु अमरः। तासां विघाधरसुन्दरीणाम्। अनङ्गलेखक्रियया न विद्यतेऽङ्गं शरीरं यस्येत्यनङ्गः 'कन्दर्पो दर्पकोऽनङ्गः कामः पञ्चशरः' इत्यमरः। लिख्यन्ते येषु ते लेखाः पत्राणि क्रियते विधीयते या सा क्रिया अनङ्गस्य लेखा अनङ्गलेखास्तेषां क्रिया अनङ्गलेखक्रिया तथा उपयोजनम् उपयोगस्तम्। विद्याधर्यादिदिव्याङ्गनाविहारयोग्योऽयं गिरिराज इत्याशयः।

भावार्थः—इह हि हिमालये विद्याधरादिसुरसुन्दर्यो मनःशिलादिधातुद्रवेण भूर्जवल्कलेषु स्मरव्यञ्जकसन्देशान् विलिख्य प्रियतमसकाशे प्रहिण्वन्ति।

भाषार्थ—हिमालय में विद्याधरी आदि देवललनाएँ मैनसिल, सिन्दूर आदि के रस से भोजपत्रों पर अपने प्रेममय सन्देश लिखकर गजबिन्दुओं के समान लाल भोजपत्रों का प्रेमपत्र के रूप में (अपने प्रियतमों के समीप भेज कर) उपयोग करती हैं॥ ७॥

यः पूरयन् कीचकरन्ध्रभागान् दरीमुखोत्थेन समीरणेन।
उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम्॥ ८॥

अन्वयः—यः दरीमुखोत्थेन समीरणेन कीचकरन्ध्रभागान् पूरयन् उद्गास्यतां किन्नराणां तानप्रदायित्वम् इच्छति इव।

व्याख्या—यः हिमालयः, दरीमुखोत्थेन—कन्दरावदननिर्गतेन, समीरणेन= समीरेण, कीचकरन्ध्रभागान्=वेणुविशेषशुषिरप्रदेशान्, पूरयन्=विधमन्, वादयन् इत्यर्थः। उद्गास्यताम्=उच्चैः (देवयोनित्वाद् गान्धारग्रामेण) गानं विधास्यताम्, किन्नराणाम्=देवयोनिविशेषाणां देवगायकानाम् इति यावत्, तानप्रदायित्वम् =वांशिकत्वम्, उपगन्तुम्=प्राप्तुम्, इच्छति इव=कामयत इव।

व्युत्पत्त्यादयः—दृणातीति दरो। 'दरी तु कन्दरो वा स्त्री देवखातविले गुहा' इत्यमरः। सा इव मुखम्। खन्यते, खन्यतेऽनेनेति वा मुखम् 'वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम्' इत्यमरः। वदनम्, तस्माद् उत्थःदरीमुखोत्थस्तेन दरीमुखोत्थेन। सम्यग् इर्ते गच्छतीति समीरणः 'समीरमारुतमरुज्जगत्प्राणसमीरणाः' इत्यमरः। तेन समीरणेन। कीचकरन्ध्रभागान् कीचयन्ते शब्दायन्ते इति कीचकः वेणुविशेषाः। 'वेणवः कीचकास्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः' इत्यमरः।

कीचकानां रन्ध्राणि कीचकरन्ध्राणि तेषां मार्गान प्रदेशान् पूरयन् पूरयतीति पूरयन् सादयन् । वैणविकोऽपि वेणुरन्ध्राणि मुखमारुतेन धमतीति प्रसिद्धम् । उद्गास्यन्तीति उद्गास्यन्तस्तेषामुद्गास्यताम् = देवयोनित्वादुच्चैर्गान्धारग्रामेण गानं विधास्यताम् । 'षड्जमध्यमनामानो ग्रामौ गायन्ति मानवाः । न तु गान्धारनामानं स लभ्यो देवयोनिभिः ।' इति नारदोक्तेः । किन्नराणाम्=वाजिवदनत्वात् कुत्सिता नराः किन्नराः तेषां किन्नराणाम् । तानप्रदायित्वम्=तन्यते गीतमनेनेति तानः । तानं प्रददातीति तानप्रदायी । तस्य भावस्तानप्रदायित्वम् । तानः खनु वेणुवाद्य-साध्योंऽशापरपर्यायः प्रधानभूतः स्वरविशेषः योऽपरस्वरं प्रवर्तयति रागादेः स्थिति-प्रवृत्त्यादिहेतुश्च भवति । 'तानस्त्वंशस्वरो मतः' इत्यभिनवगुप्ताः । गाता यं स्वरं गच्छेत् तं तं वंशेन तानयेत् ।' इति भरताचार्याः । 'गायन्ति दिव्यतानैस्तैः इति भागवतवचनम् । संगीतदामोदरे तु तानशब्दार्थ इत्थं प्रदर्शितः—

विस्तार्यन्ते प्रयोगा ये मूर्च्छनाशेषसंश्रयाः ।
तानास्तेऽप्यूनपञ्चाशत्सप्तस्वरसमुद्भवाः ॥
तेभ्यः एव भवन्त्यन्ये कूटतानाः पृथक् पृथक् ।
ते स्युः पञ्चसहस्राणि त्रयस्त्रिंशच्छतानि च ॥ इति ॥

दरीमुखोत्थेनेत्येकदेशविवर्तिरूपकेणोज्जीवित अत्र उत्प्रेक्षालङ्कारः ।

भावार्थः—यथा लोके कश्चिज्जनो मुखनिर्गतेन वायुना वेणुमापूर्य उद्गास्यतः पुरुषस्य गेयस्वराणां तानप्रदायी भवति तथा एष हिमाद्रिरपि कन्दरनिर्गतेन वायुना कीचकरन्ध्राणि विधमन् उद्गास्यतां किन्नराणां तानप्रदत्वं कामयत इव ।

भाषार्थ—लोक में देखा जाता है कि कोई गाना आरम्भ करता है, तब उसके पहले ही दूसरा पुरुष अपने मुख की वायु से वंशी को भर कर गाये जाने वाले स्वरों को सुर देता है, ठीक वैसे ही जब देवयोनि के किन्नर आदि गान्धार स्वर गाना आरम्भ करते हैं, तब उसके पहले ही यह हिमालय कन्दरा की वायु से कीचकों के छेदों को भर कर मानो उनके गाने को सुर देना चाहता है ॥ ८ ॥

कपोलकण्डूः करिभिर्विनेतुं विघट्टितानां सरलद्रुमाणाम् ।
यत्र स्नुतक्षीरतया प्रसूतः सानूनि गन्धः सुरभीकरोति ॥ ९ ॥

अन्वयः—यत्र करिभिः कपोलकण्डूः विनेतुं, विघट्टितानां सरलद्रुमाणां स्नुत-क्षीरतया प्रसूतः गन्धः सानूनि सुरभीकरोति ।

व्याख्या— यत्र=यस्मिन् हिमाद्रौ, करिभिः=गजैः, कपोलकण्डूः=गण्ड-स्थलखर्जूः, विनेतुं=निवर्तयितुं, विघट्टितानाम्=कृतघर्षणानाम्, सरलद्रुमाणाम्=

देवदारुपादपानाम्, स्रुतक्षीरतया = क्षरितसारतया, प्रसूतः = समुत्पन्नः, गन्धः = सुरभिः, सानूनि = स्नून् प्रस्थान् इत्यर्थः। सुरभीकरोति = सुगन्धीकरोति।

व्युत्पत्त्यादयः—करोतीति करः। करः शुण्डोऽस्त्येषामिति करिणो गजास्तैः 'करो वर्षोपले रश्मौ पाणौ प्रत्यायशुण्डयोः' इति मेदिनी। 'गजो नागः कुञ्जरो वारणः करी' इत्यमरः। कपोलकण्डूः कं सुखं पोलत इति कपोलौ। गण्डौ तयोः कण्डू- कण्डूयनानि कण्ड्वः, कपोलयोः कण्ड्वः कपोलकण्ड्वस्ताः कपोलकण्ड्वः विनेतुम् अपनयनम् कर्तुः अपनेतुम्, स्रुतानि क्षीराणि येषान्ते स्रुतक्षीरास्तेषां भावः स्रुतःक्षीरता तया हेतुना। असुरभिः सुरभिः सम्पद्यते तां करोतीति सुरभी- करोति। एतेनास्य गजाकरत्वं प्रतीयते। उक्तं च 'गजायुर्वेदे हिमवद्विन्ध्यमलया गजानाम् प्रभवा मताः' इति।

भावार्थः—हिमाद्रौ गजाः स्वगण्डस्थलकण्डूरपनेतुं यदा देवदारुपादपान् विघ- ट्टयन्ति तेभ्यो विनिर्गतो निर्यासरसगन्धः तत्प्रस्थान् सौरभ्यपूर्णान् करोति।

भावार्थ—हिमालय में हाथी अपन कपोलों की खुजली मिटाने के लिए देव- दारु के पेड़ों से अपने कपोलों को रगड़ते हैं। रगड़ने के कारण उनसे निकले हुए दूध की सुगन्धि से सारे शिखर सुगन्धित हो जाते हैं।। ९।।

वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्सङ्गनिषक्तभासः।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः॥ १०॥

अन्वयः—यत्र रजन्यां दरीगृहोत्संगनिशक्तभासः ओषधयः वनितासखानाम् वनेचराणाम् अतैलपूराः सुरतप्रदीपाः भवन्ति।

व्याख्या—यत्र = हिमवति, रजन्या = क्षपायां, दरीगृहोत्सङ्गनिशक्तभासः = कन्दरागाराभ्यन्तरसंक्रान्तत्विषः, ओषधयः = तृणज्योतींषि, वनितासखानाम् = महिलासहितानाम्, वनेचराणाम् = किरातानाम्, अतैलपूराः = अनपेक्षिततैलबिन्दवः, सुरतप्रदीपाः = व्यवायकर्मप्रदीपाः, भवन्ति = जायन्ते।

व्युत्पत्त्यादयः—रजन्याम्—रज्यन्त्यनुरक्ता भवन्ति रागिणो यस्यां सा रजनी "निशा निशीथिनी रात्रिस्त्रियामा क्षणदा क्षपा। विभावरी तमस्विन्यौ रजनी यामिनी तमी।" इत्यमरः। दरीगृहोत्सङ्गनिषक्तभासः-दर्य्यं एव गृहा दरीगृहास्तेषामुत्संगेषु आभ्यन्तरेषु निषक्ता भासो येषान्ते 'दरी तु कन्दरो वा स्त्री देवखातबिले गुहा इति "गुहाः पुंसि च भूम्न्येव निकायनिलयालयाः।" इति 'भाश्छविद्युतिदीप्तयः।' इति चामरः। औषधयः—ओषः प्लोषो दीप्तिर्वा धीयते यासु ताः। 'अग्नावोषधीषु च। तेजो निधाय रविरस्तं यातीत्यागमः। वनितासखानाम्—वनितानां सखायो

वनितासखाः तेषाम् । वनिताभिः सह रममाणानामित्यर्थः । 'प्रतीपदर्शिनी वामा वनिता । महिला तथा ।' 'अथ मित्रं सखा सुहृत् ।' इत्युभयत्रामरः । वनेचराणाम्=वने चरन्तीति वनेचराः, तेषाम् । अतैलपूराः=तैलेन पूर्यन्ते इति तैलपूरा न तैलपूरा अतैलपूरा शोभनं रतं रमणं यस्मिन् तत् सुरतम् 'व्यवायोः ग्राम्यधर्मो वै मैथुनं निधुवनं रतम् ।' इत्यमरः । प्रकृष्टा दीपाः प्रदीपाः, सुरतेः सुरतकर्मणि प्रदीपाः सुरतप्रदीपाः, प्रसिद्ध दीपेभ्यो वैशिष्ट्यं चाऽत्र तैलनिरपेक्षत्वेनेति ज्ञेयम् । अत्र वनौषधीषु आरोप्यमाणस्य प्रदीपत्वस्य प्रकृतोपगित्वे परिणामालङ्कारः । आरोप्यमाणस्य प्रकृत्युपयोगित्वे परिणाम इति लक्षणात् । तथा प्रदीपकारणतैलपूरनिषेधात् कारणं विनापि कार्योपपत्तेर्विभावना चेति द्वयोः संसृष्टिः

भावार्थः—हिमाद्रौ रात्रौ कन्दरासु प्रतिफलितदीप्तयस्तृणज्योतिप्रभृतयो वनौषधयः वनिताभिः साकं रममाणानां किरातानामनपेक्षिततैलपूरणाः प्रकृष्टदीपा भवन्ति ।

भाषार्थ—हिमालय में ऐसी ऐसी वनौषधियाँ प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं जिनका प्रकाश रात में दूर-दर तक फैलता है । वे गुहागृहों मे प्रकाश पहुँचा कर वहाँ पर सुरतनिरत किरातदम्पतियों के लिए तैल निरपेक्ष सुरतप्रदीपों का काम करतो हैं ।। १० ।।

उद्वेजयत्यङ्गुलिपार्ष्णिभागान् मार्गे शिलीभूतहिमेऽपि यत्र ।
न दुर्वहश्रोणिपयोधरार्ता भिन्दन्ति मन्दां गतिमश्वमुख्यः ॥ ११ ॥

अन्वयः—यत्र शिलीभूतहिमे अङ्गुलिपार्ष्णिभागान् उद्वेजयति अपि मार्गे दुर्वहश्रोणिपयोधरार्ताः अश्वमुख्यः मन्दां गतिं न भिन्दन्ति ।

व्याख्या—यत्र=हिमगिरौ, शिलीभूतहिमे=काठिन्यात्पाषाणीभूततुहिने अतः एव अङ्गुलिपार्ष्णिभागान्=चरणागुलिमूलप्रदेशान्, उद्वेजयति अपि=पीडयति अपि, मार्गे=पथि, दुर्वहश्रोणिपयोधरार्ताः=दुर्धरनितम्बस्तनमण्डलभारपीडिताः; अश्वमुख्यः=किन्नर्यः. मन्दाम्=मन्थराम्, गतिम्=गमनम्, न भिन्दन्ति=न मुञ्चन्ति ।

व्युत्पत्त्यादयः—न शिला अशिला शिला सम्पद्यमानं तथाभूतं शिलीभूतम्, शिलासदृशं घनीभावेन काठिन्यं प्राप्तं हिमं यस्मिन् स तस्मिन् । 'पाषाणप्रस्तरग्रावोपलाश्मानः शिला दृषत् ।' इति 'तुषारस्तुहिनं हिमम्' इति चामरः अङ्गन्ति गच्छन्तित्यङ्गुलयः । पृष्यते इति पृष्यते अनेन वेति पार्ष्णिः । 'पार्ष्णि स्त्रीपुंसयोः पादमूले स्याद् ध्वजिनीकटौ ।' इति रन्तिदेवः । अङ्गुलयश्चपार्ष्णी च अङ्गुलि

पार्ष्णि अत्र द्वन्द्वे । अङ्गुलिपार्ष्णिनो भागा अवयवास्तान् । उद्वेजयतीति उद्वेजयन् तस्मिन् उद्वेजयति अपि मार्गे—मृज्यते तृणादिविहीनः निधीयते पादैरिति मार्गः तस्मिन् 'अयनं वर्त्ममार्गाध्वपन्थानः' इत्यमरः । दुःखेन वोढुं शक्यं दुर्वहम् । दुरुपसर्गपूर्वात् श्रोणन्ति संघीभवन्तीति श्रोणयः । धरन्तीति धराः पयसां धराः पयोधराः स्तनाः 'पयोधराः कोषकारे नारिकेले स्तनेऽपि च । कशेरुमेघयोः पुंसि ।' इति मेदिनी । श्रोणयश्च पयोधराश्च श्रोणिपयोधरम् । दुर्वहं च तत् श्रोणिपयोधरं तेन आर्ता दुर्वहश्रोणिपयोधरार्ताः । अश्नुते व्याप्नोति तीव्रगत्येति अश्वो घोटकः तस्येव मुखं यासां ता अश्वमुख्यः किन्नरस्त्रियः 'स्यात् किन्नर किंपुरुषस्तुरंगवदनो मयुः ।' इत्यमरः । मन्दते स्वपितीति मन्दः तम् । 'मन्देऽतीक्ष्णे च मूर्खे च स्वैरे चाभाग्यरोगिणोः । अल्पे च त्रिपु पुंसि स्याद्धस्तिजात्यन्तरे शनौ ।' इति मेदिनी । गमनं गतिस्ताम् ।

भावार्थः—हिमाद्रौ हिमाधिक्यात् सर्वत्र मार्गे घनीभूतं हिमं विद्यते तच्च पथिकानां पादाङ्गुलिमूलभागान् भृशं क्लेशयति ताद्दशेऽङ्गुलिपार्ष्णि भागपीडादायिन्यपि मार्गे विपुलनितम्बपयोधरभारनिपीडिताः किन्नरनार्यः स्वीयमन्दगतिं त्यक्त्वा त्वरितं गन्तुं न क्षमन्ते ।

भावार्थ—हिमालय में सब जगह बर्फ ही बर्फ है वह चिरकाल स्थायी होने से जम कर पत्थर की तरह कड़ा हो जाता है । ऐसे बर्फीले मार्ग में भी, जो बटोहियों की अँगुलियों और एड़ियों को अत्यन्त कष्ट देता है, विशाल नितम्ब और स्तनों के बोझ से लदी हुई किन्नरियाँ अपनी मन्दगति का त्याग कर शीघ्रता से नहीं चल सकती हैं ॥ ११ ॥

दिवाकराद् रक्षति यो गुहासु लीनं दिवाभीतमिवान्धकारम् ।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैःशिरसां सतीव ॥ १२ ॥

अन्वयः—यः दिवा भीतम् इव गुहासु लीनम् अन्धकारम् दिवाकराद् रक्षति । उच्चैः शिरसां शरणं प्रपन्ने क्षुद्रे अपि सति इव नूनं ममत्वम् (अस्ति) ।

व्याख्या—यः = हिमालयः, दिवा=दिवसे, भीतम्=भयान्वितम्, इव = यथा, दिवाभीतमिव उलूकमिवेति च ध्वनिः । गुहासु=कन्दरासु, लीनम् = अन्तर्हितम्, अन्धकारम्=तिमिरम्, दिवाकरात्=सूर्यात्, रक्षति = त्रायते, उच्चैःशिरसाम्=उन्नतमस्तकानाम्, शरणं प्रपन्ने=शरणमागते, स्वाश्रयं प्राप्ते इत्यर्थः । क्षुद्रेऽपि=नीचेऽपि जने, सति=सज्जने इव=यथा, नूनम्=निश्चयेन, ममत्वम् मदीयोऽयमित्यभिमानः, आत्मीयत्वमित्यर्थः भवति ।

व्युपत्त्यादयः—गूहन्तीति गुहाः कन्दराः तासु । यः । 'दरी तु कन्दरी वा स्त्री देवखातबिले गुहाः' इत्यमरः । अन्धं करोतीति=अन्धकारस्तम्, 'अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तं तमिस्रं तिमिरं तमः ।' इत्यमरः । दिवाकराद् दिवा दिनं करोतीति दिवाकरस्तस्मात् । उच्चैः शिरो येषां ते उच्चैःशिरसस्तेषामुच्चैःशिरसाम् । अस्तीति सन् तस्मिन् सति । 'सत्ये साधौ विद्यमाने प्रशस्तेऽभ्यर्हिते च सत् ।' इत्यमरः । मम भावो ममत्वम् । श्रृणाति विपक्षभीतिजं दुःखमिति शरणम् । 'शरणं गृहरक्षित्रोः ।' इत्यमरः । क्षुद्रे क्षुणत्तीति क्षुद्रः तस्मिन् । 'क्षुद्रो दरिद्रे कृपणे निकृष्टेऽल्पनृशंसयोः ।' इति हेमचन्द्रः । अत्र विशेषस्य सामान्ये समर्थनाद् अर्थान्तरन्यासो नामालङ्कारः ।

भावार्थः—यो हिमाद्रिः दिवाभीतमिव[1] गुहासु निलीनं तिमिरं दिवाकरात् त्रायते हि उन्नतानां शरणमुपागते निकृष्टेऽपि जने सज्जने इव निश्चितमात्मीयत्वं जायते ।

भाषार्थ—हिमालय दिन में भयभीत हुए उल्लू की तरह गुफाओं में छिपे हुए अन्धकार को सूर्य से बचाता हैं । उदार पुरुष घर में आये हुए नीच पर भी ऐसी ही आत्मीयता वर्तते हैं ।। १२ ।

लाङ्गूलविक्षेपविसर्पिशोभैरितस्ततश्चन्द्रमरीचिगौरैः ।
यस्यार्थयुक्तं गिरिराजशब्दं कुर्वन्ति बालव्यजनैश्चमर्यः ।। १३ ।।

अन्वयः—चमर्य इतस्ततः लाङ्गूलविक्षेविसर्पिशोभैः चन्द्रमरीचिगौरः बालव्यजनैः यस्य गिरिराजशब्दम् अर्थयुक्तं कुर्वन्ति ।

व्याख्या—चमर्यः=चमरमृग्यः, इतस्ततः=परितः, लाङ्गूलविक्षेपविसर्पिशोभैः=पुच्छविलोलनविसृमरकान्तिभिः, चन्द्रमरीचिगौरैः=इन्दुरश्मिधवलैः, बालव्यजनैः=चामरैः, यस्य=हिमालयस्य, गिरिराजशब्दम्=शैलाधिराजशब्दम्, अर्थयुक्तम्=अन्वर्थम्, कुर्वन्ति=विदधति ।

व्युत्पत्त्यादयः—चम्यन्तेऽद्यन्ते इति चमरास्तेषां स्त्रियः । 'चमरं चामरे स्त्री तु मञ्जरीमृगभेदयोः' इति मेदिनी । लङ्गन्तीति लाङ्गूलानि । विक्षेपणानि विक्षेपाः । विसर्पन्तीति विसर्पिण्यः। शोभयन्तीति शोभाः। लाङ्गूलानां विक्षेपा लाङ्गूलविक्षेपा लाङ्गूलविक्षेपै विसर्पिण्यः शोभा येषां तानि लाङ्गूलविक्षेपपिसर्पिशोभानि तैः । 'लाङ्गूलं पुच्छशेफयोः।' इति मेदिनी । चन्द्रतीति चन्द्रः । म्रियते तमो येषु यासु

१. दिवान्धः कौशिक घूको दिवाभीतो निशाटनः। इत्यभिधानात् उलूकोऽपि व्यज्यते ।

वा मरीचयः 'द्वयोर्मरीचिः किरणो भानुरुस्रः करः परम् ।' इति शब्दार्णवः । गुरते उद्युङ्क्ते मनो येषु तानि गौराणि । 'गौरः श्वेतेऽरुणे पीते विशुद्धे चन्द्रमस्यपि । विशदे गौर तु श्वेतसर्षपे पद्मकेसरे ।' इति हैमः । चन्द्रस्य मरीचयश्चन्द्रमरीचयः चन्द्रमरीचिवद् गौराणि चन्द्रमरीचिगौराणि, तैः । बलते बल्यते वा बालः । विशेषेण व्यजन्ति यैस्तानि व्यजनानि बालानि च तानि व्यजनानि बालव्यजनानि तैः चामरैः । 'चामरा चामर बालव्यजनं रोमगुच्छकम् ।' इति रभसः । गिरन्तीति गिरयः । राजते इति राजा शब्दनं शब्दः गिरीणां राजा गिरिराजः । गिरिराजश्चासौ शब्दस्तं गिरिराजशब्दम् । अर्थयुक्तम् अर्थेन युक्तस्तम् अन्वर्थम् ।

भावार्थः—चमरमृग्यः परितः लाङ्गूलचालनप्रसृमरप्रभैः चन्द्रकिरणधवलैः स्वपुच्छप्रान्तवर्तिचामरैरस्य शैलाधिराजशब्दमन्वर्थं कुर्वन्ति ।

भाषार्थ—चँवरी गायें चारों ओर पूछों के हिलाने-डुलाने से अत्यन्त भले लगने वाले चन्द्रमा की किरणों के तुल्य शुभ्र अपने चँवरों से इसके पर्वतराज शब्द को सार्थक करती हैं ॥ १३ ॥

यत्रांशुकाक्षेपविलज्जितानां यदृच्छया किंपुरुषाङ्गनानाम् ।
दरीगृहद्वारविलम्बिबिम्बास्तिरस्करिण्यो जलदा भवन्ति ॥ १४ ॥

अन्वयः—यत्र अंशुकाक्षेपविलज्जितानां किंपुरुषाङ्गनानां यदृच्छया दरीगृहद्वारविलम्बिबिम्बाः जलदाः तिरस्करिण्यः भवन्ति ।

व्याख्या—यत्र=हिमाद्रौ, अंशुकाक्षेपविलज्जितानाम्=वसनाकर्षणह्रीणानाम् किंपुरुषाङ्गनानाम्=किन्नरनारीणाम्, यदृच्छया=निसर्गतः, दरीगृहद्वारविलम्बिबिम्बाः=गुहागेहकवाटलम्बमानमण्डलाः, जलदाः=मेघाः, तिरस्करिण्यः=जवनिकाः (व्यवधानपटचः) भवन्ति=जायन्ते ।

व्युत्पत्त्यादयः—अंशुकाक्षेपबिलज्जितानाम्=अंशुभिः सूत्रसूक्ष्मांशैः काशते इति अंशुकानि । 'अंशुः सूत्रादिसूक्ष्मांशे किरणे चण्डदीधितेः ।' इति हैमः । 'अंशुकं श्लक्ष्णवस्त्रे स्याद् वस्त्रमात्रोत्तरीययोः ।' इति मेदिनि । आक्षेपणम् आक्षेपः, अंशुकनाम् आक्षेपः, अंशुकाक्षेप तेन विलज्जितानाम् । कुत्सिताः पुरुषाः किंपुरुषाः । प्रशस्तानि अङ्गानि सन्ति यासां ता अङ्गनाः किंपुरुषाणाम् अङ्गनाः किंपुरुषाङ्गनास्तासाम् । दर्यः एव गृहाः दरीगृहास्तेषां द्वाराणि । विलम्बन्ते इति विलम्बिनः दरीगृहद्वारेषु विलम्बिनः बिम्बा येषान्ते 'बिम्बोऽस्त्री मण्डलं त्रिषु ।' इत्यमरः । जलदाः—जलं ददतीति जलदाः, 'धाराधरो जलधरस्तडित्वान् वारिदाम्बुभृत्' इत्यमरः । वारिदशब्दः तोयदजलदाम्बुदादिशब्दानामप्युपलक्षणम् । तिरस्कुर्वन्तीति

तिरस्करिण्यः । अत्र जलधरेषु आरोप्यमाणस्य तिरस्करिणीत्वस्य प्रकृतोपयोगित्वात् परिणामालङ्कारः ।

भावार्थः—यत्र नगाधिराजे रहसि कान्तकृतवसनापहारेण ह्रीणानां किन्नर-सुन्दरीणां निसर्गतो गुहागेहद्वारि विलम्बमानविम्बा जलदास्तनुलताव्यवधायकत्वेनावरणपटीभावं व्रजन्ति ।

भाषार्थ—हिमालय में प्रियतम द्वारा वस्त्र खींच लेने से लज्जित हुई, किन्नर-सुन्दरियों के अपने आप गुहारूपी गृहों के द्वार पर लटक रहे मेघ पर्दे बन जाते हैं ॥ १४ ॥

> **भागीरथीनिर्झरसीकराणां वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः ।**
> **यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हः ॥ १५ ॥**

अन्वयः—भागीरथीनिर्झरसीकराणां वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः भिन्न-शिखण्डिबर्हः यद्वायुः अन्विष्टमृगैः किरातैः आसेव्यते ।

व्याख्या—भगीरथीनिर्झरसीकराणाम्=जाह्नवीप्रवाहजलकणानाम्, वोढा=प्रापकः, मुहुः—पौनःपुन्येन सद्यो वा । कम्पितदेवदारुः=चालितपारिभद्रः, भिन्न शिखण्डिबर्हः=विश्लेषितबर्हिशिखण्डः, यद्वायुः=यदीयपवनः । अन्विष्टमृगैः=मार्गितकुरङ्गैः, किरातैः=शबरैः, आसेव्यते=समन्ताद् उपभुज्यते ।

व्युत्पत्त्यादयः—भगीरथीनिर्झरसीकराणाम्=भगीरथस्य इयं भागीरथी 'भागीरथी त्रिपथगा त्रिस्रोता भीष्मसूरपि ।' इत्यमरः । निर्झरणं निर्झरः । भागीरथ्या निर्झरः 'वारिप्रवाहो निर्झर झरः ।' इत्यमरः । भागीरथीनिर्झरस्तस्य सीकरास्तेषां 'सीकरोऽम्बुकणाः स्मृताः ।' इत्यमरः । वोढा, वहतीति वोढा वाहकः। मुहुः—'पौनःपुन्ये भृशार्थे च सद्यो वा स्यान्मुहुःपदम्' इति वैजयन्ती । कम्पित-देवदारुः—कम्पिता देवदारवो येन सः । 'शक्रपादपः पारिभद्रः । भद्रदारुक द्रुकिलिमं पीतदारुः च दारु च । पूतिकाष्ठं च सप्त स्युर्देवदारुणि' इत्यमरः । शिखण्डाः सन्ति येषां ते शिखण्डिनस्तेषां बर्हाणि शिखण्डिबर्हाणि, भिन्नानि शिखण्डिबर्हाणि येन सः । यद्वायुः=वातीति वायुः 'वा गतिगन्धनयोः' इत्यस्मात् । 'श्वसनः स्पर्शनो वायुर्मातरिश्वा सदागतिः' इत्यमरः । यस्य वायुः यद्वायुः । अन्विष्टमृगैः—अन्विष्टा मृगायैस्ते अन्विष्टामृगाः तैः 'मृगे कुरङ्गवातायुहरिणाजिनयोनयः ।' इत्यमरः । मन्दसुगन्धशीतलवायुरिह सदा वाति किरातानामपि स सुलभ इति भावः ।

भावार्थः—सम्पृक्तगङ्गासीकरशीतलमाधूनदेवदारुसुरभि – विश्लेषिमयूरवर्ह-मन्दसुगन्धशीतलं यदीयवायुं मार्गितमृगाः किराताः समन्तात् सेवन्ते ।

भावार्थ—गङ्गा जी के प्रवाह के जलकणों को धारण करने वाले, बार-बार देवदारु के वृक्षों को थोड़ा-थोड़ा हिलाने वाले और किरातों द्वारा गमनसौकर्य के लिए कमर में खोसे हुए मयूर पङ्खों को विश्लेषित करने वाले—मन्द सुगन्ध और शीतल—हिमालय-वायु का मृगों को खोज चुके, अत एव श्रान्त हुए किरात सेवन करते हैं ॥ १५ ॥

सप्तर्षिहस्तावचितावशेषाण्यधो विवस्वान् परिवर्तमानः ।
पद्मानि यस्याग्रसरोरुहाणि प्रबोधयत्यूर्ध्वमुखैर्मयूखैः ॥ १६ ॥

अन्वयः—सप्तर्षिहस्तावचितावशेषाणि यस्य अग्रसरोरुहाणि पद्मानि अधः परिवर्तमानः विवस्वान् ऊर्ध्वमुखैः मयूखैः प्रबोधयति ।

व्याख्या—सप्तर्षिहस्तावचितावशेषाणि=कश्यपादिसप्तर्षिकरत्रोटितावशिष्टानि यस्य=हिमालयस्य, अग्रसरोरुहाणि=उपरितनशिखरसरोवरजातानि, पद्मानि= कमलानि, अधः=निम्नदेशे, परिवर्तमानः=परिभ्रमन्, विवस्वान्=सूर्यः, उर्ध्वमुखैः=उपरि प्रसर्पिभिः, मयूखैः=किरणैः, प्रबोधयति=विकासयति ।

व्युत्पत्त्यादयः—सप्तर्षिहस्तावचितावशेषाणि- ऋषन्तीति ऋषयः । 'ऋषिर्वेदे वसिष्ठादौ दीधितौ च पुमानयम् ।' इति मेदिनी । हसन्तीति हस्ताः 'हस्तः करे करिकरे सप्रकोष्ठकरेऽपि च । ऋक्षे केशात्परो व्राते ।' इति मेदिनी । सप्त च ते ऋषयः सप्तर्षयस्तेषां हस्ताः तैः सप्तर्षिहस्तैः, अवचितानि सप्तर्षिहस्तावचितानि तेभ्योऽवशेषाणि अवशिष्यन्ते इति अवशेषाणि । 'शेषोऽप्रधानसंतापे त्रिष्वन्यत्रोपयुज्यते ।' इति केशवः । रोहन्तीति रुहाणि अग्रे यानि सरांसि अग्रसरांसि तेषु रुहाणि अग्रसरोरुहाणि 'कासारः सरसी सरः ।' इत्यमरः । अगतीति अग्रम् 'अग्रं पुरस्तादुपरि परिणामे पलस्य च । आलम्बने समूहे च प्रान्ते च स्यान्नपुंसकम् ॥ अधिके च प्रधाने च प्रथमे चाभिधेयवत् ।' इति मेदिनी । पद्यन्ते गम्यन्ते इति पद्मानि 'वा पुंसि पद्मं नलिनमरविन्दमहोत्पलम्' । इत्यमरः । परिवर्तते इति परिवर्तमानः । विवस्तेजोऽस्त्यस्यासौ विवस्वान् ।' 'विवस्वान् विबुधे सूर्ये' इति कोषः । ऊर्ध्वमुखैः ऊर्ध्वं मुखं येषान्ते, ऊर्ध्वमुखास्तै ऊर्ध्वमुखैः, मयूखैर्न जातुचित् अधोमुखैः मयूखैर्विकासयति यतोऽस्याग्रभूमयोऽतिक्रान्तसूर्यमण्डलाः सन्ति । सप्तर्षिमण्डलं ध्रुवपदादपि उपरि विद्यतेऽतस्तेषामग्रसरोरुहभाक्त्वमुचितमित्यर्थः ।

भावार्थः—हिमाद्रेरग्रभूमिषु विद्यमानासु सरसीषु समुत्पन्नानि कमलानि सप्तर्षयो निजनित्यक्रियाद्यर्थं स्वहस्तैरवचिन्वन्ति ततोऽवशिष्टानां कमलानां प्रबोधम् अधोभागे परिभ्रमन् सूर्यं ऊर्ध्वं सर्पिभिरंशुभिर्विधत्ते ।

भावार्थ—हिमालय की शिखरभूमियों के सरोवर में उत्पन्न हुए कमलों का जन्म सप्तर्षिगण अपने दैनिक पूजनादि के लिए अपने हाथों से उन्हें चुनकर सफल करते हैं। शेष कमलों का नीचे परिभ्रमण कर रहा सूर्य अपनी ऊपर को फैलनेवाली किरणों से विकास करता है। हिमालय इतना ऊँचा है कि सूर्य उसके मध्यभाग में ही घूमता है न कि ऊपर, इसलिए शिखर के सरोवरों के कमलों को वह ऊपर की ओर फैलानेवाली किरणों से विकसित करता है ॥१६॥

यज्ञाङ्गयोनित्वमवेक्ष्य यस्य सारं धरित्रीधरणक्षमं च।
प्रजापतिः कल्पितयज्ञभागं शैलाधिपत्यं स्वयमन्वतिष्ठत् ॥ १७ ॥

अन्वयः—यस्य यज्ञाङ्गयोनित्वं धरित्रीधरणक्षमं सारं च अवेक्ष्य प्रजापतिः स्वयं कल्पितयज्ञभागं शैलाधिपत्यम् अन्वतिष्ठत्।

व्याख्या—यस्य = हिमवतः, यज्ञाङ्गयोनित्वम् = मखसाधनसोमलतादिजनकत्वम्, धरित्रीधरणक्षमम्=क्षितिभारधारणयोग्यम्, सारम् = बलम्, च = अपि, अवेक्ष्य = अवलोक्य, प्रजापतिः=विधाता, स्वयम्=आत्मना (न खलु परप्रेरणया) कल्पितयज्ञभागम् = स्थिरीकृताध्वरांशम्, शैलाधिपत्यम् = नगाधिराजत्वम्, अन्वतिष्ठत् = अददात्।

व्युत्पत्त्यादयः—यज्ञाङ्गयोनित्वम्—इज्यतेऽनेन इति यज्ञः 'यज्ञः सवोऽध्वरो यागः सप्ततन्तुर्मखः क्रतुः।' इत्यमरः। अङ्गन्तीति अङ्गानि। 'अङ्गं गात्रे प्रतीकोपाययोः पुंभूम्नि नीवृति। क्लीबैकत्वे त्वप्रधाने त्रिष्वङ्गवति चान्तिके।' इति मेदिनी। यौतीति योनिः। 'योनिः कारणे भगतोययोः।' इति हैमः। यज्ञानामध्वराणामङ्गानि साधनानि तेषां योनिस्तस्य भावो यज्ञाङ्गयोनित्वम् तत्। धरित्रीधरणक्षमम्—धरित्र्याः धरणं धरित्रीधरणं तत्र क्षमस्तम्। क्षमते इति क्षमः। 'क्षमः शक्ते हिते त्रिषु' इत्यमरः। सरति कालान्तरमिति सारस्तम्। 'सारो बले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीबं वरे त्रिषु।' इत्यमरः। प्रजापतिः प्रकर्षेण जायन्ते इति प्रजाः। पाति रक्षतीति पतिः। प्रजानां पतिः प्रजापतिः 'स्रष्टा प्रजापतिर्वेधा विधाता' इत्यमरः। स्वयम्—सुष्ठु अयते इति स्वयम् 'स्वयमात्मा' इत्यमरः। कल्पितयज्ञभागम्—कल्पितो यज्ञस्य भागो यस्मिंस्तत् कल्पितयज्ञभागं तत् 'सोमस्य राज्ञः कुरङ्ग इन्दोः शृङ्गी समुद्रस्य शिशुमारो हिमवतो हस्ती' इति श्रुतेरित्यर्थः। अधिपातीति अधिपतिः 'प्रभुः परिवृढोऽधिपः' इत्यमरः। अधिपतेर्भाव आधिपत्यम् अधिनायकत्वम्। शैलानाम् आधिपत्यं शैलाधिपत्यम्। 'अद्रिगोत्रगिरिग्रावाचलशैलशिलोच्चयाः।' इत्यमरः। अन्वतिष्ठत्, अस्य शैलाधिपत्यं स्वयमकरोत् इत्यर्थः। 'शैलानां हिमवन्तं च नदीनां चैव सागरम्। गन्धः

र्णामधिपतिं चक्रे चित्ररथं विधिः ।' इति ब्रह्माण्डपुराणे हिमवतः शैलाधिपत्यं विधेः प्रतिपादनात् ।

भावार्थः—भगवान् ब्रह्माऽस्य हिमवतो विविधयज्ञोपकरण[1] जनकतां पृथिवी-धारणयोग्यं बलं च विज्ञाय यज्ञभागप्रदानपूर्वकस्य सकल शैलाधिपत्यमकरोत् ।

भाषार्थ—भगवान् ब्रह्माजी ने हिमालय को यज्ञोपयोगी सोमलता प्रभृति विविध साधनों का आकर जानकर और उसमें पृथिवी धारणयोग्य बल देखकर स्वयं ही यज्ञभाग प्रदान पूर्वक उसे सब पर्वतों का राजा बना दिया ।। १७ ।।

प्रस्तुत कथां प्रस्तौति—

स मानसीं मेरुसखः पितॄणां कन्यां कुलस्य स्थितये स्थितिज्ञः ।
मेनां मुनीनामपि माननीयामात्मानुरूपां विधिनोपयेमे ।। १८ ।।

अन्वयः—मेरुसखः स्थितिज्ञः सः मुनीनाम् अपि माननीयाम् आत्मानुरूपां मेनां कन्यां कुलस्य स्थितये विधिना उपयेमे ।

व्याख्या—मेरुसखः=सुमेरुसुहृत्, स्थितिज्ञः=शास्त्रमर्यादाभिज्ञः, सः=हिमवान्, पितॄणाम्=अग्निष्वात्तप्रभुतीनाम्, मानसीम्=मनःसङ्कल्पजाम् मुनी-नाम्=मननशीलानां योगिब्रह्मवादिनाम्, अपि=च, माननीयाम्=पूजनीयाम्, आत्मानुरूपाम्=कुलशीलसौन्दर्यप्रभृतिभिः गुणगणैः स्वसदृशीम्, मेनाम्=मेना-भिधाम्, कन्याम्=कुमारीम्, कुलस्य=अन्वयस्य, स्थितये=अविच्छित्तये (प्रतिष्ठायै), विधिना=शास्त्रोक्तविधानेन, उपयेमे=उदूढवान् ।

व्युत्पत्त्यादयः—मेरोः सखा इति मेरुसखः बन्धुबान्धवसहित इति भावः । तिष्ठन्त्यस्यामिति स्थितिः । 'संस्था तु मर्यादा धारणा स्थितिः' इत्यमरः । जानातीति ज्ञः । स्थितेर्ज्ञः स्थितिज्ञः, श्रुतसम्पत्तिसहित इति भावः । पान्तीति पितर । तेषां पितॄणामग्निष्वात्तादीनां, मानसीम्=मनस इयं मानसी तां मनःसंकल्पजाम् । तस्याः पितॄणां मनःसङ्कल्पजत्वं ब्रह्माण्डपुराणे प्रतिपादितम्—'तेषां तु मानसी कन्या मेना नाम महागिरेः । पत्नी हिमवतो यस्याः पुत्रो मैनाक उच्यते ।।' मन्यत इति मुनय 'मुनिः पुंसि वसिष्ठादौ वङ्गसेनतरौ जिने' इत्यमरः । तेषां मुनीनाम् । मान-यितुं योग्या माननीया ताम् योगिब्रह्मवादिभिरभ्यर्चनीयाम् । तदुक्तं विष्णुपुराणे-

तेभ्यः शुभास्पदं जज्ञे मेनका हरिणी तथा ।
ते उभे ब्रह्मवादिन्यौ योगिन्यौ चाप्युभे द्विज ।। इति ।।

अतति सातत्येन गच्छतीति आत्मा, रूपम् अनुगता अनुरूपा आत्मनाः अनुरूपा

---

१. यथार्थं च मया सृष्टो हिमवानचलेश्वरः ।' इति विष्णुपुराणे भगवद्वा-क्यमत्र प्रमाणम् ।

आत्मानुरूपा ताम् । 'आत्मा चित्ते धृतौ यत्ने धिषणायां कलेवरे । परमात्मनि जीवेऽर्के हुताशनसमीरयोः । स्वभावे' इति कोषः । कुलशीलवयोऽवस्थादिभिः स्वसदृशीमित्यर्थः । कनति दीव्यतीति कन्या । तां कन्याम् । 'कन्या नार्या कुमार्या च राश्योषधिविशेषयोः ।' इति हैमः । कोलतीति कुलम् । 'कुलं जनपदे गोत्रे' इति मेदिनी । तस्य कुलस्य, स्थानं स्थितिः 'संख्या तु मर्यादा धारणा स्थितिः ।' इत्यमरः । तस्यै स्थितये । विधीयते अनेन इति विधिः । 'विधिर्ना नियतौ काले विधाने परमेष्ठिनि ।' इति मेदिनी । तेन विधिना ।

भावार्थः—बन्धुबान्धवसम्पन्नः शास्त्रमर्यादाभिज्ञः स हिमवान् पितॄणां मनः-सङ्कल्पसंभृतां योगिनां ब्रह्मज्ञानिनां च पूजनीयां कुलशीलसौन्दर्यादिभिः स्वसदृशीं मेनानाम्नीं कन्यां वंशसन्तानसंवर्धनाय शास्त्रविधानेन परिणीतवान् ।

भाषार्थ—मेरु के मित्र तथा लौकिक और शास्त्रीय मर्यादाओं से अभिज्ञ हिमालय ने मुनियों की (योगियों यथा ब्रह्मज्ञानियों की) भी पूजनीय तथा पितृगणों की मानस कन्या मेना के साथ, जो कुल, शील, सुन्दरता आदि में अपने अनुरूप थी, वंश-प्रवाह को अक्षुण्ण रखने से लिए शास्त्रीय विधि से विवाह किया ॥ १८ ॥

कालक्रमेणाथ तयोः प्रवृत्ते स्वरूपयोग्ये सुरतप्रसङ्गे ।
मनोरमं यौवनमुद्वहन्त्या गर्भोऽभवद् भूधरराजपत्न्याः ॥ १९ ॥

अन्वयः—अथ कालक्रमेण तयोः स्वरूपयोग्ये सुरतप्रसङ्गे प्रवृत्ते (सति) मनोरमं यौवनम् उद्वहन्त्याः भूधरराजपत्न्याः गर्भः अभवत् ।

व्याख्या—अथ = अनन्तरम्, कालक्रमेण = समयगत्या, गच्छता कियता अनेहसेत्यर्थः । तयोः = मेनाहिमवतोः, स्वरूपयोग्ये=आत्मानुरूपे सौन्दर्यानुगुणे । शस्त्रज्ञानानुसारिणीति वा, सुरतप्रसङ्गे = निधुवनकृत्ये, प्रवृत्ते सति=जाते सति, मनोरमम् = मनोज्ञम्, यौवनम् = तारुण्यम्, उद्वहन्त्याः = दधानायाः, भूधरराज-पत्न्याः = शैलाधिराजगृहिण्याः, गर्भः = भ्रूणः, अभवत् = जातः ।

व्युत्पत्त्यादयः—अथ-अर्थयत इति अथ (अव्ययम्) 'अर्थ याच्ञायाम्' धातोः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति डप्रत्ययः, 'अथाथो संशये स्यातामधिकारे च मङ्गले । विकल्पानन्तरप्रश्नकात्स्न्यारम्भसमुच्चये ।' इति मेदिनी । कालक्रमेण—कालयति सर्वमिति कालः[1] क्रमणं क्रमः । 'क्रमश्चानुक्रमे शक्तौ कल्पे चाक्रमणेऽपि च' इति मेदिनी । कालस्य क्रमः कालक्रमस्तेन । तयोः—सा च स च तौ, तयोः । स्वरूप-

१. 'कालो दिष्टोऽप्यनेहापि समयः' इत्यमरः ।

योग्ये—स्वनतीति स्वः आत्मा । 'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिष्वात्मीये स्वोऽस्त्रियां धने ।' इत्यमरः । रोपयति विमोहयतीति रूपं सौन्दर्यम् । 'रूपं तु श्लोक-शब्दयोः । पशावाकाशे सौन्दर्ये नाटके नाटकादिके ।। ग्रन्थावृत्तौ स्वभावे च' इति हैमः । स्वस्य रूपं स्वरूपमात्मसौन्दर्यम् । योगाय प्रभवतीति योग्यः योगार्हः 'योग्यः प्रवीणयोगार्होपायिशक्तेषु वाच्यवत् । क्लीबमृद्धौषधौ पुष्पे ना स्त्र्यभ्यासार्थयोषितोः ।।' इति मेदिनी । स्वरूपस्य योग्यः स्वरूपयोग्यस्तस्मिन् स्वरूपयोग्ये । अथवा रूप्यते निश्चीयतेऽनेन तद्रूपं शास्त्रज्ञानं स्वस्य रूपं स्वरूपं तदनुरूपे, स्वशास्त्रज्ञानानुसारे इत्यर्थः । रमणं रतम् । सुष्ठु रतं सुरतम् । प्रसज्जनं प्रसङ्गः, सुरतस्य प्रसङ्गः सुरतप्रसङ्गस्तस्मिन् । प्रावर्तिष्टेति प्रवृत्तः, तस्मिन् । मनो रमयतीति मनोरमम् । 'कान्तं मनोरमं रुच्यं मनोज्ञं मञ्जु मञ्जुलम्' इत्यमरः । तत् । योति स्त्रिया सह शरीरं मिश्रीकरोतीति युवा, यूनो भावः यौवनम् । तत् । उद्वहतीति उद्वहन्ती तस्या उद्वहन्त्याः । भूधरराज-पत्न्याः—भवतीति भूः सत्तार्थात् क्विप् । भूर्भूमिरचलानन्ता' इत्यमरः । धरन्तीति धराः । भुवः धराः भूधराः, भूभृतः 'महीध्रे शिखरिक्ष्माभृदहार्यधर-पर्वताः ।' इत्यमरः । भूधराणां राजा भूधरराजः तस्य पत्नी भूधरराजपत्नी, तस्याः । पाति यज्ञे स्वसंयोगेन स्वर्गादिफलदानद्वारा पतिं रक्षति उत्कर्षं नयतीति पत्नी पाणिगृहीती । 'पत्नी पाणिगृहीती च द्वितीया सहधर्मिणी ।' इत्यमरः । गर्भः—गीर्यते शब्द्यते इति गर्भः 'गर्भो भ्रूणेऽर्भके कुक्षौ सन्धौ पनसकण्टके ।' इति मेदिनी ।

भावार्थः—विवाहानन्तरं गच्छता कियता कालेन स्वसौन्दर्यानुरूपं निधुवनं सेवमानयोस्तयोर्मञ्जुलतमं तारुण्यं दधाना नगाधिराजभार्या गर्भमाधत्त ।

भाषार्थ—विवाह के अनन्तर वे दोनों अपने सौन्दर्य के अनुरूप गार्हस्थ्य सुख का अनुभव करने लगे । थोड़े ही दिनों में अत्यन्त मनोहर यौवन धारण कर रही गिरिराज सहधर्मिणी मेना के गर्भ रह गया ।। १९ ।।

असूत सा नागवधूपभोग्यं मैनाकमम्भोनिधिबद्धसख्यम् ।
क्रुद्धेऽपि पक्षच्छिदि वृत्रशत्रावबेदनाज्ञं कुलिशक्षतानाम् ॥ २० ॥

अन्वयः—सा नागवधूपभोग्यम् अम्भोनिधिबद्धसख्यं पक्षच्छिदि वृत्रशत्रौ क्रुद्धे अपि कुलिशक्षतानाम् अवेदनाज्ञं मैनाकम् असूत ।

व्याख्या—सा=मेना, नागवधूपभोग्यम्=पतालनिलयतया भुजङ्गभामिनी-भोगार्हम्, नागकन्यापरिणेतारमित्यर्थः । अम्भोनिधिबद्धसख्यम्=सागरकृतसौहृदम्, पक्षच्छिदि=गरुल्लावके, छदच्छेत्तरि इति यावत् । वृत्रशत्रौ शक्रे, क्रुद्धे अपि=

रुष्टे अपि, कुलिशक्षतानाम्=अशनिप्रहाराणाम्, अवेदनाज्ञम्=व्यथानभिज्ञम्, मैनाकम्=मैनाकाभिधानं सूनुम्, असूत=जनयामास ।

व्युत्पत्त्यादयः—नागवधूपभोग्यम्—न गच्छतीति अगः न अगः नागः । उह्यते या सा वधूः । नागस्य वधूः नागवधूस्तस्या उपभोग्यं उपभोक्तुं योग्यः उपभोग्यस्तम् । 'नारी सीमन्तिनी वधूः' इत्यमरः । 'नागं नपुंसकं रङ्गे सीसके करणान्तरे । नागः पन्नगमातङ्गक्रूराचारिषु तोयदे ॥' नागकेसरपुन्नामनागदन्तकमुस्तके । देहानिलप्रभेदे च श्रेष्ठे स्यादुत्तरस्थितः ॥' इति मेदिनी । अम्भोनिधिबद्धसख्यम्—अम्भन्त इत्यम्भांसि अम्भोनिधिः उदधिः तेन बद्धं सख्युर्भावः सख्यम् येन स तम् । 'उदन्वानुदधिः सिन्धुः सरस्वान् सागरोऽर्णवः । रत्नाकरो जलनिधिः' इत्यमरः । 'सख्यं सप्तपदीनं स्यात्' इति चामरः । पक्षच्छिदि—पक्षयन्तीति पक्षा गरुतः । 'गरुत्पक्षच्छदाः पत्रं पतत्रं च तनूरुहम्' इत्यमरः । पक्षान् छिनत्तीति पक्षच्छिद् तस्मिन् । वृत्रशत्रौ—वृणोतीति वृत्रः 'वृत्रो रिपौ घने ध्वान्ते शैलभेदे च दानवे ।' इति मेदिनी । शातयतीति शत्रुः 'द्विड्विपक्षाहितामित्रदस्युशत्रवशत्रवः ।' इत्यमरः । वृत्रस्य शत्रुः वृत्रशत्रुस्तस्मिन् वृत्रशत्रौ । कुलिशक्षतानाम्—कुलिनः पर्वतान् श्यतीति कुलिशम् 'कुलिशं भिदुरं पविः । शतकोटिः स्वरुः शम्बो दम्भोलिरशनिर्द्वयोः ।' इत्यमरः । कुलिशस्य क्षतानि कुलिशक्षतानि तेषाम् । अवेदनाज्ञम्—वेदनां जानातीति वेदनाज्ञः । न वेदनाज्ञोऽवेदनाज्ञस्तम् । अशनिप्रहारवेदनानभिज्ञमित्यर्थः । पूर्वं कृतयुगे गिरयो गरुत्मन्तः सन्तो गरुत्मन्त इव सर्वा दिशो जग्मुः । तेषां संचारेण देवर्षिभिः साकं सुरा मानवाश्च सर्वे तेषां पतनशङ्कया भयमीयुः । तदवलोक्य कुपितो देवराजः कुलिशेन तेषां पक्षान् चिच्छेद । ततो मैनाकस्य पक्षान् उच्छेत्तुं कुलिशमुद्यम्य क्रुद्धे शतक्रतौ तत्सकाशमागते सति महात्मना वायुना मैनाको लवणाम्बुधौ प्रक्षिप्तः । शरण्यस्याम्भोनिधेरनुग्रहेण रक्षितपक्षोऽक्षतश्चाभवदिति । समुद्रश्छन्नमम्भसि मैनाकं गिरिसत्तममुवाच । देवराजेन त्वमिह पातालनिलयानामसुरसंधानामर्गलः कृतोऽसि । त्वमेषां ज्ञातबलानां पुनरप्युत्पतिष्यतां निलयस्य पातालस्य द्वारमावृत्य तिष्ठसि । तिर्यगूर्ध्वमधश्चापि वर्धितुं ते शक्तिरस्ति । पातालनिलयतया नागवधूपभोग्यतायामम्भोनिधिबद्धमैत्रीकत्वे चेयं रामायणीकथाऽनुसन्धेया । सकलशैलगरुच्छेदेऽपि मैनाकोऽच्छिन्नगरुदिति मैनाकस्योत्कर्षः । तादृक्पुत्रेण पुत्री हिमवान् इति सार्थकं मैनाकस्य वर्णनम् ।

यस्यास्तु न भवेद् भ्राता न विज्ञायेत वा पिता ।
नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकां धर्मशङ्कया ॥

इत्यभ्रातृककन्यापरिणयनिषेधात्प्रकृते पार्वती भ्रातृमत्येवेति सूचनार्थं मैनाक-पर्वतवर्णनमिति तात्पर्यार्थः ।

भावार्थः—मेना नागकन्यापरिणेतारं सागरवद्धसौहृदं मेनाकं नाम सूनुमजीजनत् । यो मैनाकः शक्रेण रोषाविष्टेन सर्वशैलानां कृतेऽपि पक्षछेदे स्वनैपुण्येनाच्छिन्नपक्ष एवास्ति ।

भाषार्थ—मेना ने मैनाक को, जिसने आगे चलकर नागकन्या के साथ विवाह किया तथा समुद्र के साथ गहरी मित्रता जोड़ी, जना । इन्द्र ने पर्वतों के उत्पात से क्रुद्ध होकर सब पर्वतों के पक्ष काट डाले, किन्तु मैनाक को अपनी कुशलता से वज्र-प्रहार से होनेवाली व्यथा नहीं भोगनी पड़ी ।। २० ।।

पार्वत्याः प्राक्तनीं कथामाह—

अथावमानेन पितुः प्रयुक्ता दक्षस्य कन्या भवपूर्वपत्नी ।
सती सती योगविसृष्टदेहा तां जन्मने शैलवधूं प्रपेदे ॥ २१ ॥

अन्वयः—अथ दक्षस्य कन्या भवपूर्वपत्नी सती सती पितुः अवमानेन प्रयुक्ता योगविसृष्टदेहा (सती) जन्मने तां शैलवधू प्रपेदे ।

व्याख्या—अथ मैनाकजन्मानन्तरम्, दक्षस्य=प्रजापतिभेदस्य, कन्या=तनया, भवपूर्वपत्नी=शङ्करपूर्वसहधर्मिणी, सती=साध्वी, सती=दाक्षायणीनाम्नी देवी, पितुः=जनकस्य, दक्षस्येत्यर्थः, अवमानेन=तिरस्क्रियया, पत्यवज्ञयेत्यर्थः । प्रयुक्ता=प्रेरिता, योगविसृष्टदेहा=योगाध्वरत्यक्तशरीरा सती, जन्मने=पुनरुत्पत्तये, ताम्=प्रस्तुताम्, शैलवधूम्=पर्वतराजपत्नीम्, प्रपेदे=प्राप ।

व्युत्पत्त्यादयः—दक्षस्य—हिरण्यगर्भाङ्गुष्ठसंभवस्य प्रजापतिष्वन्यतमस्य, 'उत्सङ्गान्नारदो जज्ञे दक्षोऽङ्गुष्ठात्स्वयंभुवः ।' इति भागवतात्, भवति भवते सर्वमिति भवः । 'व्योमकेशो भवो भीमः स्थाणू रुद्र उमापतिः ।' इत्यमरः । पूर्वा चासौ पत्नी पूर्वपत्नी भवस्य पूर्वपत्नी । सती अस्ति एकस्मिन् पत्याविति सती । 'सती साध्वी पतिव्रता' इत्यमरः । योगविसृष्टदेहा—योजनं योगः योगेन विसृष्टो देहो यया सा योगविसृष्टदेहा (सती) । जन्मने—जननं जन्म तस्मै जन्मने । शैलवधूम् - शैलस्य वधूः सैलवधूस्तां शैलवधूम् । प्रपेदे-प्रपूर्वात् पद धातोः कर्तरि लिट् । पुरा विश्व-सृजां सत्रे भगवान् शङ्करः श्वशुरं मां न ननामेति मनसि विद्वेषं दधानो दक्षः स्वीये बृहस्पतिसवे सर्वान् ब्रह्मर्षिदेवर्षिप्रभृतीन् आजुहाव स्वसम्बन्धितो लोकशङ्करं शङ्कर सती दुहितरं च नाजुहाव । पितृगृह-महोत्सवे गमनेच्छामपनेतुं न पारयन्तो सती देवं व्यजिज्ञपत् नाथ तत्र समेताः सभर्तृका भगिनीर्मातरं पितरमन्यांश्च सम्बन्धिनो द्रष्टुं ममास्ति महती स्पृहानु-

जानीहि मामिति । मुहुरनुरुरोध च । शङ्करेणानिच्छया ज्ञप्ताऽनाहूतापि तत्र गत्वाध्वरे स्वभर्त्रवज्ञामसहमाना शितिकण्ठगर्हिणस्त्वत्तो जातं कलेवरं न धारयिष्यामि इति पितरं मातरं चोपेक्ष्य मत्कर्तव्यकार्यं त्वज्जामातैव करिष्यतीति निर्धाय देवकार्याणि साधयितुं च योगाग्निना स्वशरीरं ददाहेति पौराणिकी कथाऽत्रानुसन्धेया ।

भावार्थः—मैनाकोत्पत्तेरनन्तरं दक्षस्य तनया महादेवप्रथमभार्या पतिव्रतासु प्रथमकीर्तनीया दाक्षायणी देवी पितृकृतेन भर्त्रवमानेन प्रेरिता सती योगाग्नौ स्वं कलेवरं हुत्वा पुनरुद्भवाय मेनामुपेयाय ।

भाषार्थ—मैनाक की उत्पत्ति के अनन्तर प्रजापति दक्ष की पुत्री महादेवजी की प्रथमपत्नी पतिव्रताग्रगण्य दाक्षायणी देवी पिता द्वारा की गयी पति की अवज्ञा से अपने शरीर का योगाग्नि में हवन कर पुनः उत्पन्न होने के लिए मेना के समीप प्राप्त हुई ॥ २१ ॥

पार्वत्या जनिं वर्णयति—

सा भूधराणामधिपेन तस्यां समाधिमत्यामुदपादि भव्या ।
सम्यक्प्रयोगादपरिक्षतायां नीताविवोत्साहगुणेन सम्पत् ॥ २२ ॥

अन्वयः—भव्या सा भूधराणाम् अधिपेन समाधिमात्यां तस्यां सम्यक्प्रयोगाद् अपरिक्षतायां नीतौ उत्साहगुणेन सम्पद् इव उदपादि ।

व्याख्या—भव्या=मङ्गला कल्याणीत्यर्थः । सा=दाक्षायणी देवी, भूधराणाम्=शैलानाम्, अधिपेन=प्रभुणा, हिमालयेनेत्यर्थः । समाधिमत्याम्=नियमान्वितायाम्, तस्याम्=मेनायाम्, सम्यक्प्रयोगात्=साध्वाचरणाद् हेतो, अपरिक्षतायाम्=अलुप्तायाम्, अपरिभ्रष्टायामित्यर्थः । नीतौ=नये, उत्साहगुणेन=उत्साहशक्त्या, सम्पद् इव=सम्पत्तिरिव, उदपादि=अजनि ।

व्युत्पत्त्यादयः—भव्या–भवतीति भव्या । 'श्वः श्रेयसं शिवं भद्रं कल्याणं मङ्गलं शुभम् । भावुकं भविकं भव्यं कुशलं क्षेममस्त्रियाम् ॥' इत्यमरः । भूधराणाम्–धरन्तीति धराः । भवतीति भूः । भुवः धरा भूधरास्तेषां भूधराणाम् । अधिपेन-अधिपातीति अधिपः । तेन अधिपेन 'अधिभूर्नायको नेता प्रभुः परिवृढोऽधिपः ।' इत्यमरः । समाधिमत्याम्–समाधिरस्ति यस्या सा समाधिमती तस्यां समाधिमत्याम् । 'स्युः समर्थननीवाकनियमाश्च समाधयः ।' इत्यमरः । सम्यक्प्रयोगात्–समञ्चतीति सम्यङ् । सम्यङ् चासौ प्रयोगः सम्यक्प्रयोगस्तस्मात् । अपरिक्षतायाम्—न परिक्षता अपरिक्षता तस्याम् । नीतौ–नीयतेऽनया सा नीतिः

तस्याम् । उत्साहगुणेन—उत्सहतेऽनेन उत्साहः । उत्साह एव गुण उत्साहगुणस्तेन । 'शक्तयस्तिस्रः प्रभावोत्साहमन्त्रजाः' इत्यमरः । सम्पद्यतेऽनया सम्पत् । 'अथ सम्पदि । सम्पत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च ।' इत्यमरः । उपपादि—उत्पूर्वात् पद धातोः ण्यन्तात् कर्मणि लुङ् । चिण् भावकर्मणोः' इति चिण् प्रत्ययः । 'चिणो लुक्' इति तस्य लुक् ।

भावार्थः—यथा केनचित् पुंसा समुचितप्रयोगादपरिक्षतायां नीतौ उत्साहशक्त्या सम्पत्तिरुत्पाद्यते तथैव नगाधिराजेन सन्ततये नियमविशेषान्वितायां मेनायां सा कल्याणी समुत्पादिता ।

भावार्थ—जैसे कोई उद्यमी पुरुष सुन्दर ढंग से प्रयुक्त होने के कारण परिपुष्ट नीति में उत्साहरूपी गुण से सम्पत्ति उत्पन्न करता है, वैसे ही नगाधिराज-हिमालय ने सन्तान के लिए नियम रखने वाली मेना में कल्याण-गुणों से युक्त सती देवी को उत्पन्न किया ।। २२ ।।

प्रसन्नदिक् पांसुविविक्तवातं शङ्खस्वनानन्तरपुष्पवृष्टि ।
शरीरिणां स्थावरजङ्गमानां सुखाय तज्जन्मदिनं बभूव ॥ २३ ॥

अन्वयः—प्रसन्नदिक् पांसुविविक्तवातं शङ्खस्वनानन्तरपुष्पवृष्टि तज्जन्मदिनं स्थावरजङ्गमानां शरीरिणां सुखाय बभूव ।

व्याख्या—प्रसन्नदिक्=विमलहरित्; स्वच्छदिशम् इत्यर्थः । पांशुविविक्तवातम्=रेणुकरहितसमीरम्, शङ्खस्वनानन्तरपुष्पवृष्टि = कम्बुरवानन्तरप्रसूनवर्षम्, तज्जन्मदिनम्=पार्वतीजननवासरम्, स्थावरजङ्गमानाम्=चराचराणाम् शरीरिणाम्=देहधारिणाम्, सुखाय=मुदे, बभूव=अजायत ।

व्युत्पत्त्यादयः—प्रसन्नदिक्=प्रासदन्ते इति प्रसन्नाः । प्रासन्ना दिशो यस्मिन् तत् 'प्रसन्ना स्त्री सुरायां स्यादच्छसन्तुष्टयोस्त्रिषु ।' इति मेदिनी । अनेन नयनाह्लादकता प्रतिपादिता । पंशन्तीति पांशवः । व्यविक्ष्यत इति विविक्ता । वान्तीति वाताः, पांशुभिः विविक्ता वाता यस्मिन् तत् । 'तालव्या अपि दन्त्याश्च सम्बसूकरपांसवः' इति दन्त्योऽप्ययं शब्दः । रेणुर्द्वयोः स्त्रियां धूलिः पांशुर्ना न द्वयो रजः ।' इत्यमरः विविक्तं त्रिष्वसंपृक्ते रहःपूतविवेकिषु ।' इति मेदिनी । 'नभस्वद्वातपवनपवमानप्रभञ्जनाः ।' इत्यमरः । अनेन विशेषणेन त्वगिन्द्रियममुदुक्ता । शङ्खस्वनानन्तरपुष्पवृष्टि—शं खनति जनयतीति शङ्खः, स्वननं स्वनः पुष्यन्तीति पुष्पाणि । शङ्खस्य स्वनः शङ्खस्वनस्तस्य अनन्तरं पुष्पाणां वृष्टिर्यस्मिन् तत् । शङ्खः स्यात् कम्बुरस्त्रियो' 'शब्दे निनादनिनदध्वनिध्वानरवस्वनाः ।' इति चामरः, 'पुष्पं विकास

आर्तवे। धनदस्य विमाने च कुसुमे नेत्ररुज्यपि।' इति हैमः। 'वृष्टिर्वर्षम्' इत्यमरः। स्थावरजङ्गमानाम्—तिष्ठन्तीति स्थावराः स्थितिशीलाः शैलवृक्षादयः 'स्थावरो जङ्गमेतरः' इत्यमरः। जङ्गम्यन्ते भृशं गच्छन्तीति जङ्गमाः देवतिर्यङ्मनुष्यादयः। 'चरिष्णुजङ्गमचरं त्रसमिङ्गं चराचरम्।' इत्यमरः। स्थावराश्च जङ्गमाश्च स्थावरजङ्गमास्तेषां स्थावरजङ्गमानाम्। शरीरिणाम्—शृणन्ति शीर्यन्ते इति वा शरीराणि। 'गात्रं वपुः संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहः'। इत्यमरः। तानि सन्ति येषान्ते शरीरिणः। तेषां सुखाय—सुखयतीत सुखम् तस्मै सुखाय। 'स्यादानन्दथुरानन्दः शर्मशातसुखानि च' इत्यमरः।

भावार्थः—तस्या जन्मदिने दिशः प्रसेदुः, धूलिलेशशून्याः सुरभयो वायवो ववुः, मङ्गलस्वनाः शङ्खाः ध्मायन्ते स्म, कुसुमवृष्टयः पेतुः, इत्थं तस्या जन्मदिनं चराचराणां जीवानामानन्दायाऽभवत्।

भाषार्थ—पार्वती के जन्म दिन में दिशाएँ स्वच्छ हो गयीं। धूलिविहीन मन्द सुगन्ध शीतल वायु वहने लगी। शङ्खध्वनियों के अनन्तर पुष्पवृष्टियाँ हुई। इस प्रकार पार्वतीका जन्मदिन सब चराचर जीवों के लिए आनन्ददायक हुआ ॥२३॥

तया दुहित्रा सुतरां सवित्री स्फुरत्प्रभामण्डलया चकासे।
विदूरभूमिर्नवमेघशब्दादुद्भिन्नया रत्नशलाकयेव ॥ २४ ॥

अन्वयः—स्फुरत्प्रभामण्डलया तया दुहित्रा सवित्री विदूरभूमिः नवमेघशब्दात् उद्भिन्नया रत्नशलाकया इव सुतरां चकासे।

व्याख्या—स्फुरत्प्रभामण्डलया=लसद्दीप्तिवितानया, तया दुहित्रा=तया आत्मजया, सवित्री=प्रसूः, मातेत्यर्थः। विदूरभूमिः=विदूराख्यपर्वततटभूमिः, नवमेघशब्दाद्=नूतनजलधरनिर्घोषात्। उद्भिन्नया=उद्भिज्जतामासया, भूमिं भित्वा बहिर्निर्गतयेत्यर्थः। रत्नशलाकया=रत्नाङ्कुरेण, इव=यथा, सुतराम्=नितान्तम्, चकासे=दिदीपे।

व्युत्पत्त्यादयः—स्फुरत्प्रभामण्डलया—स्फुरतीति स्फुरत्। प्रभातीति प्रभा। 'स्युः प्रभा रुग्रुचिस्त्विड् भा भाश्छविद्युतिदीप्तयः।' इत्यमरः। मण्डयतीति मण्डलम्। 'चक्रवालं तु मण्डलम्।' इत्यमरः। प्रभाया मण्डलं प्रभामण्डलं स्फुरत् प्रभामण्डलं छायामण्डलं यस्याः सा स्फुरत्प्रभामण्डला तया। दुहित्रा—दोग्धीति दुहिता। 'आत्मजस्तनयः सूनुः सुतः पुत्रः स्त्रियां त्वमी। आहुर्दुहितरम्' इत्यमरः। तया दुहित्रा। सवित्री सूते इति सवित्री। दुःखेनेयते प्राप्यते इति दूरः। विषेशेण

दूर: विदूर: भवतीति भूमि: 'भूमि: क्षितौ स्थानमात्रे' इति हैम: । विदूरस्य भूमि: विदूरभूमि: ।

'अवदूरं विदूरस्य गिरेरुत्तुङ्गरोधस: ।
काकतालीयसीमान्ते मणीनामाकरो भवेत् ॥' इति वृद्ध: ।

नवशेघशब्दात् नूयते स्तूयते इति नव: । 'प्रत्यग्रोऽभिनवो नव्यो नवीनो नूतनो नव:' इत्यमर: । मेहतीति मेघ: । 'अभ्रं मेघो वारिवाह: स्तनयित्नुर्बुलाहक: ।' इत्यमर: । शब्दनं शब्द: 'शब्दे निनादनिनदध्वनिध्वानरवस्वना: ।' इत्यमर: । नवश्चासौ मेघ: नवमेघ: नवमेघस्य शब्द: नवमेघशब्दस्तस्मात् । रत्नशलाकया— रत्नस्य शलाका रत्नशलाका तया । उपमालङ्कार:, पूर्णोपमेयम्, उपमानोपमेयसाधारणधर्मोपमाप्रतिपादकानामुपादाने पूर्णा एकस्य द्वयोस्त्रयाणां वा लोपे लुप्तेति प्रतिपादनात् ।

भावार्थ:—यथा खलु नवजलधरध्वनेरुद्भिज्जवद् भूमिं भित्वा बर्हिनिर्गतेन रत्नाङ्कुरेण रत्नाकरभूतविदूराचलभूमि: चकास्ते तथैव समन्तात् स्फुरच्छायामण्डलया तया दुहित्रा (पार्वत्या) सवित्री (मेना) नितरां चकासे ।

भाषार्थ—नूतन मेघ के गर्जन से भूमि को भेद कर निकले हुए रत्न के अंकुर से जैसे विदूर पर्वतकी भूमि (जो मणियों की खान है) शोभित होती है वैसे ही मेना अपनी पुत्री से, जिसके वदन के चारों ओर कान्तिराशि दमक रही थी, अत्यन्त सुशोभित हुई ॥ २४ ॥

**दिने दिने सा परिवर्धमाना लब्धोदया चान्द्रमसीव लेखा ।
पुपोष लावण्यमयान्विशेषाञ्ज्योत्स्नान्तराणीव कलान्तराणि ॥ २५ ॥**

अन्वय:—लब्धोदया दिने दिने परिवर्धमाना सा चान्द्रमसी लेखा इव लावण्यमयान् विशेषान् ज्योत्स्नान्तराणि कलान्तराणि इव पुपोष ।

व्याख्या—लब्धोदया=समुत्पन्ना प्राप्तजनिरित्यर्थ: । चन्द्रलेखापक्षे अभ्युदिता, चान्द्रमसी=ऐन्दवी, लेखा=रेखा, इव=यथा, लावण्यमयान्=प्रचुरद्युतिविशेषान्, विशेषान्=अवयवान्, अङ्गानीत्यर्थ: ज्योत्स्नान्तराणि=कौमुदीमयानि, कलान्तराणि=अन्या: कला:, इव=यथा, पुपोष=उपचिकाय, तुष्टवतीत्यर्थ: ।

व्युत्पत्त्यादय:—लब्धोदया अलम्भीति लब्ध: । उदयनमुदय: लब्ध: उदयो यया सा लब्धोदया । 'लब्धं प्राप्तं विन्नं भावितमासादितं भूतं च ।' इत्यमर: । पक्षान्तरे लब्ध: उदय: अभ्युदयोरविदूरगत्या दृष्टिपथवर्तित्वं यया सा । दिने-दिने । परिवर्धमाना-परिवर्धते इति परिवर्धमाना, चान्द्रमसी-चन्द्रं कर्पूरं सादृश्येन माति

तुलयतीति चन्द्रमाः तस्य चन्द्रमस इयं चान्द्रमसी । 'हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्रः' इत्यमरः । लेखा—लिख्यते इति लेखा 'लेखा लेख्ये देवते च लेखा राज्यां लिपावपि ।' इति हैमः । रलयोरेकत्वस्मरणात्' रेखा अपि । लावण्यमयान्—लुनाति जाड्यमिति लवणा । 'लवणो राक्षसे रसे । अस्थिभेदे लवणा त्विट् ।' इति हैमः । लवणत्वं लावण्यम् । चातुर्वर्ण्यादित्वात् स्वार्थे ष्यञ्, लावण्यस्य प्राचुर्यं येषु ते लावण्यमयास्तान्

लावण्यपदार्थो भूपालेनेत्थं प्रतिपादितः—

'मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा ।
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ॥' इति ॥

विशिष्यन्ते यैस्ते विशेषाः अवयवाः, तान् । तदुक्तमुत्पलमायाम् 'विशेषोऽवयवे व्यक्तौ, इति । ज्योत्स्नान्तराणि,ज्योतिरस्त्यस्यां सा ज्योत्स्ना । ज्योत्स्नायामन्तरमन्तर्धानं येषान्तानि ज्योत्स्नन्तराणि ज्योत्स्नमयानीति यावत् । 'चन्द्रिका कौमदी ज्योत्स्ना ।' इत्यमरः । अन्तं रातीति अन्तरम् । 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये । छिद्रात्मीयविनावहिरवसरमध्येऽन्तरात्मनि च ।' इत्यमरः । कालान्तराणि—अन्याः कलाः कलान्तराणि, कलयन्तीति कलाः । पुपोष । वाक्यार्थोपमेयम् । तल्लाक्षणमाहाचार्यदण्डी—'वाक्यार्थेनैव वाक्यार्थः कोऽपि यद्युपमीयते । एकानेकेवशब्दत्वात्सा तु वाक्योपमा द्विधा ॥' इति ॥

भावार्थः—यथाभ्युदितानुदिनं परिवर्धमाना चान्द्री कला कौमुदीमयानि कलान्तराणि पुष्णाति तथैव लब्धजनिः दिने दिने परिवर्धमाना सा बालिकापि लावण्यमयानवयवान् पुपोष ।

भाषार्थ—जैसे उदित हुई दिन-दिन बढ़ रही चन्द्र-कला प्रचुर चाँदनी वाली अन्यान्य कलाओं को पुष्ट करती है, वैसे ही उत्पन्न हुई दिन-दिन बढ़ रही उस बालिका ने भी सौन्दर्य- सने अंगों को पुष्ट किया ॥ २५ ॥

तां पार्वतीत्याभिजनेन नाम्ना बन्धुप्रियां बन्धुजनो जुहाव ।
उमेति मात्रा तपसो निषिद्धा पश्चादुमाख्यां सुमुखी जगाम ॥ २६ ॥

अन्वयः—बन्धुजनः बन्धुप्रियां ताम् अभिजनेन नाम्ना पार्वती इति जुहाव पश्चात् मात्रा उमा इति तपसः निषिद्धा (सती) सुमुखी उमाख्यां जगाम ।

व्याख्या—बन्धुजनः=पित्रादिस्वजनः, बन्धुप्रियाम्=आत्मीयजनवल्लभाम्, ताम्=बालिकाम्, पित्रादिकुलप्राप्तेन, नाम्ना=अभिधानेन, पार्वती=गिरिजा, इति=इत्थम्, जुहाव=आहूतवान्, पश्चात्=अनन्तरम्, मात्रा=जनन्या । उ=हे, मा=मा कुरु, इति=इत्थम्, तपसः=तपश्चर्यायाः, निषिद्धा=निवारिता सती,

सुमुखी=चन्द्रानना, उमाख्याम्=उमाभिधाम्, जगाम=प्राप।

व्युत्पत्त्यादयः—बन्धुजनः—बध्नातीति बन्धुः। 'सगोत्र-बान्धवज्ञातिबन्धु-स्वस्वजनाः समाः।' इत्यमरः। जायते इति जनः। 'जनो लोके महर्लोकात् परे लोके च पामरे। जनी सीमन्तिनीवध्वोरुत्पत्तौ च जनिर्मता' इति विश्वः। बन्धुश्चासौ जनश्च इति बन्धुजनः। बन्धुप्रियाम्—प्रीणातीति प्रिया 'अभीष्टेऽभीप्सितं हृद्यं दयितं वल्लभं प्रियम्।' इत्यमरः। बन्धूनां प्रिया बन्धुप्रिया ताम्। अभिजनेन अभिजायतेऽस्मिन् इति अभिजनः। अभिजनः कुले ख्यातौ जन्मभूम्यां कुलध्वजे' इति विश्वः। अभिजनाद् आगतम् आभिजनं तेन। नाम्ना—नम्यतेऽभिधीयतेऽर्थोऽनेन तत् नाम तेन नाम्ना। 'आख्याह्वे अभिधानं च नामधेयं च नाम च।' इत्यमरः। पार्वतीपर्वाणि सन्त्यस्मिन्निति पर्वतः 'पर्वतः शैलदेवर्षौ' इति विश्वः। पर्वतस्यापत्यं स्त्री पार्वती। 'अपर्णा पार्वती दुर्गा मृडानी चण्डिकाम्बिका।' इत्यमरः, जुहावेति। मात्रा—मान्यते या सा माता। माति गर्भो यस्यां सा वा माता तया। 'जनयित्री प्रसूर्माता जननी' इत्यमरः। 'उ' इत्यव्ययपदं सम्बोधने प्रयुज्यते, 'उ इति वितर्कसम्बोधनपादपूरणेषु।' इति गणव्याख्यानात्। मा—मा इति पद निषेधार्थकम् 'मास्म मालं च वारणे' इत्यमरकोषात्। तपसः—तप्यतेऽनेनेति तपः, सुमुखी—शोभनं मुखं यस्याः सा सुमुखी। उमाख्याम्—उमा चासौ आख्या च उमाख्या ताम् (आख्यायतेऽनया सा आख्या) 'उमा कात्यायनी गौरी' इत्यमरः। जगामेति गच्छतेर्लिटि रूपम्।

भावार्थः—बान्धवलोका बन्धुजनहृद्या तां पूर्वजसम्बन्धद्योतकेन नामधेयेन पार्वतीत्याहूतवान् पश्चात् जनन्या अये मा कुरु इति तपश्चरणाद् निषिद्धा सती सा सुवदना उमाख्यां लेभे।

भावार्थ—पिता आदि आत्मीय जनों को पार्वती प्रिय थी, इसलिए पहले उन्होंने पूर्वजों से सम्बद्ध नाम से उसे 'पार्वती' पुकारा, तदनन्तर जब माँ ने 'अरी बच्ची तप मत करो' इस प्रकार उसे तप से निवृत्त किया तब वह उमा नाम से प्रसिद्ध हुई॥ २३॥

महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम्।
अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा॥ २७॥

अन्वयः—पुत्रवतः अपि महीभृतः दृष्टिः तस्मिन् अपत्ये तृप्ति न जगाम हि अनन्तपुष्पस्य मधोः द्विरेफमाला चूते सविशेषसङ्गा (भवति)।

व्याख्या—पुत्रवतः अपि=बहुसुतस्यापि, महीभृतः=धरणीधरस्य, हिमाद्रेरित्यर्थः । दृष्टिः=दृक्, तस्मिन्=पार्वतीरूपे, अपत्ये=तोके, तृप्तिम्=तर्पणम्, सौहित्यमित्यर्थः । न जगाम=न प्राप, हि=तथाहि, अनन्तपुष्पस्य=असंख्यप्रसूनस्य, मधोः=वसन्तस्य, द्विरेफमाला=भ्रमरराजिः, चूते=रसालकुसुमे, सविशेषसङ्गा=अत्यासक्ता भवतीति शेषः ।

व्युत्पत्त्यादयः—पुत्रवतः—पुनाति । पुन्नरकात् त्रायते इति वा पुत्रः पुत्रपूर्वात् 'त्रैङ् पालने' धातोः 'सुपि' इति कः । उक्तं च मनुना—'पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुतः । तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा ॥' इति पुत्री च पुत्रश्च पुत्राः 'भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्' इत्येकशेषः 'पुत्रौ पुत्रश्च दुहिता च ।' इत्यमरः । ते अस्य सन्तीति पुत्रवान् तस्य । महीभृतः— मह्यते पूज्यते इति मही । महीं बिभर्तीति महीभृत् तस्यमहीभृतः । महीध्रे शिखरिक्ष्माभृदहार्यधरपर्वताः । ' इत्यमरः । दृष्टिः—दृश्यतेऽनयेति दृष्टि । 'दृष्टिर्ज्ञानेऽक्ष्णि दर्शने' इति हैमः । अपत्ये—न पतन्ति पितरोऽनेनेति अपत्यम्, तस्मिन् अपत्ये 'अपत्यं तोकं तयोः समे' इत्यमरः । तृप्तिम्—तर्पणं तृप्तिः 'सौहित्यं तर्पणं तृप्ति ' इत्यमरः। जगाम इति । हि—'हिपादपूरणे हेतौ विशेषेऽवधारणे । हेत्वपदेशे च संभ्रमासूययोरपि ।' इति मेदिनी । अनन्तपुष्पस्य—अनन्तः नास्ति अन्तो येषान्तानि अनन्तानि । 'अन्तः स्वरूपे निकटे प्रान्ते निश्चयनाशयोः । अवयवेऽपि' इति हैमः । पुष्प्यन्तीति पुष्पाणि । अनन्तानि पुष्पाणि यस्य सः अनन्तपुष्पस्तस्य अनन्तपुष्पस्य । 'पुष्पं प्रसूनं कुसुमं सुमनसम्' । इत्यमरः ।

मधोः—मन्यते इति मधुः तस्य । 'मधु क्षौद्रे जले क्षीरे मद्ये पुष्परसे मधुः दैत्ये चैत्रे वसन्ते च जीवकोशे मधुद्रुमे ॥' इति विश्वः । द्विरेफमाला—द्वौ रेफौ नाम्नि येषां ते द्विरेफाः । मां लातीति माला । 'द्विरेफपुष्पालिड्भृङ्गषट्पदभ्रमरालयः ।' इत्यमरः । 'माला तु पङ्क्तौ पुष्पदामनि' इति हैमः । चूते—अचोषीति चूतः । आम्रश्चूतो रसालः' इत्यमरः । चूतस्य विकारः कुसुमम् चूतम् । तस्मिन् । सविशेषसङ्गा—विशेषणं विशेषः विशेषेण सहितः सविशेषः । सज्जनं सङ्गः सविशेषः शब्दभेदेनोपात्त इति प्रतिवस्तूपमालङ्कारः,'प्रतिवस्तूपमा तु सा । सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः ।' इति तल्लक्षणात् (काव्यप्रकाशः) ।

भावार्थः—बह्वपत्यस्यापि हिमवतो दृष्टिः पार्वत्यामेव भृशं स्नेहसरसाऽभवत् तस्याः दर्शनेन सः तृप्तिं न जगाम । तथाहि विविधप्रसूनस्यापि वसन्तस्य भ्रमरालिः चूतमुकुल एवात्यासक्ता भवति ।

भाषार्थ—यद्यपि हिमालय के बहुत से बच्चे (बालक-बालिकाएँ) थे, फिर भी उसकी आँखें पार्वती पर ही अधिक स्नेह बरसाती थीं। उसके दर्शन से उसे तृप्ति ही नहीं होती थी। ठीक भी है, वसन्त में विविध प्रकार के फूल खिलते हैं पर भ्रमरपंक्ति आम की बौर पर ही विशेष लट्टू रहती है ॥ २७ ॥

प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः ।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च ॥ २८ ॥

अन्वयः—प्रभामहत्या शिखया दीप इव, त्रिमार्गया त्रिदिवस्य मार्ग इव, संस्कारवत्या गिरा मनीषी इव तया सः पूतः विभूषितः च ।

व्याख्या—प्रभामहत्या=दीप्तिविपुलया, प्रकाशाधिकयेत्यर्थः । शिखया=ज्वालया, दीपः=दशेन्धनः (प्रदीपः), इव=यथा, 'अवयवावयवित्वेन दीप-शिखयोर्भेदेन व्यपदेशः ।' त्रिमार्गया=मन्दाकिन्या, त्रिदिवस्य=त्रिदशालयस्य:, मार्गः=पन्थाः, इव=यथा, संस्कारवत्या=व्याकरणजन्यशुद्धिमत्या, गिरा=वाचा, मनीषी=पण्डितः, इव=यथा, तया=पार्वत्या, सः=हिमाद्रिः, पूतः=विशोधितः, विभूषितश्च=अलङ्कृतश्च ।

व्युत्पत्त्यादयः—प्रभामहत्या—प्रभाभिर्महती प्रभामहती तया प्रभामहत्या । 'विशङ्कटं पृथु बृहद्विशालं पृथुलं महत् । बड्रोरुविपुलम्' इत्यमरः । शिखया-शेते इति शिखा । 'शिखा ज्वालाबर्हिचूडालाङ्गलक्यग्रमात्रके ।' इति विश्वः । दीपः–दीपयतीति दीपः । 'दीपः प्रदीपः' इत्यमरः । त्रिमार्गया—त्रयो मार्गा यस्याः सा त्रिमार्गा तया त्रिमार्गया। 'भागीरथी त्रिपथगा त्रिस्रोता भीष्मसरपि ।' इत्यमरः। स्वर्गनाकत्रिदिवत्रिदशालयाः' इत्यमरः । मार्गाः 'अयनं वर्त्म मार्गाध्वपन्थानः पदवी सृतिः ।' इत्यमर' । संस्कारवत्या-- संस्करणं संस्कारः व्याकरणजन्या शुद्धिः सोऽस्यास्तीति संस्कारवती तया । गिरा-- गृणन्त्येमिति गीः । 'गीर्वाग् वाणी' इत्यमरः । तया गिरा । मनीषी–मनस ईसा मनीषा सा अस्यास्तीति मनीषी 'धीरोमनीषी ज्ञः प्राज्ञः संख्यावान् पण्डितः कविः ।' इत्यमरः । पूतः अपात्रि इति पूतः । विभूषितः—व्यभूषिति विभूषितः । एकस्यैव बहूपमानोपादाने मालोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—यथा प्रकाशाधिकया शिखया दीपः पूज्यते विभूष्यते च यथा मन्दाकिन्या स्वर्गमार्गः पूयते विभूष्यते च यथा च व्याकरणजन्यशुद्धिमत्या वाण्या विद्वान् पूज्यते विभूष्यते च तथैव पार्वत्या हिमाद्रिः पूतः विभूषितश्च ।

भाषार्थ—जैसे अधिक दीप्तिवाली लौ से दीपक पवित्र और अलंकृत होता है; जैसे गङ्गाजी से स्वर्गमार्ग पवित्र और अलंकृत होता है और जैसे व्याकरण-

जन्म शुद्धि से युक्त वाणी से विद्वान् पवित्र और अलंकृत होता है, वैसे ही पार्वती से हिमाद्रि भी पवित्र और अलंकृत हुआ ॥ २८ ॥

मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभिः सा कन्दुकैः कृत्रिमपुत्रकैश्च ।
रेमे मुहुर्मध्यगता सखीनां क्रीडारसं निर्विशतीव बाल्ये ॥ २९ ॥

अन्वयः—सा बाल्ये क्रीडारसं निर्विशती इव सखीनां मध्यगता सती मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभिः कन्दुकैः कृत्रिमपुत्रकैः च मुहुः रेमे ।

व्याख्या—सा=शैलाधिराजकन्या, बाल्ये=शैशवावस्थायाम्, क्रीडारसम्—क्रीडास्वादम्. निर्विशतीव=भुञ्जानेव, सखीनाम्=वयस्यानाम् (आलीनाम्), मध्यगता (सती)=मध्यस्थिता (सती), मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभिः=सुरनिम्नागापुलिनवितर्दिभिः सुरनिम्नगासिकतामयतीरभूमौ, वेदिकानिर्माणैरित्यर्थः। कन्दुकैः=गेन्दुकैः, कृत्रिमपुत्रकैः = वस्त्रदन्तादिकृतपाञ्चालिकाभीः, च=अपि, मुहुः=पौनःपुन्येन, रेमे=चिक्रीड ।

व्युत्पत्त्यादयः—बाल्ये—बालस्य भावः बाल्यं तस्मिन् बाल्ये । 'शिशुत्वं शैशवं बाल्यम्' इत्यमरः । क्रीडारसम्—क्रीडनानि क्रीडाः 'क्रीडा खेला च कूर्दनम्' इत्यमरः । रस्यते आस्वाद्यते इति रसः । 'रसो गन्धरसे स्वादे तिक्तादौ विषरागयोः । शृङ्गारादौ द्रवे वीर्ये देहधात्वम्बुपारदे ।' इति विश्वः । क्रीडानां रसः क्रीडारसस्तम् । निर्विशती—निर्विशतीति निर्विशती । 'निर्वेशो भृतिभोगयोः' इति विश्वः । सखीनाम्—समानाः ख्यायन्ते इति सख्यः । 'सखा मित्रे सहाये ना वयस्यानां सखी मता ।' इति मेदिनी । तासां सखीनाम् । मध्यगता—मह्यते इति मध्यम् । मध्यं गता मध्यगता । मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभिः—मन्दमकितुं शीलं यस्याः सा मन्दाकिनी । सिकताः सन्त्यस्मिन्निति सैकतम् 'सैकतं सिकतामयम्' इत्यमरः । सैकते वेदिकाः सैकतवेदिकाः विदन्त्यानन्दं यासु ता वेदिका वितर्दयः । वेद्य एव वेदिकाः । ताभिः । 'स्याद् वितर्दिस्तु वेदिका ।' इत्यमरः । कं सुखं ददतीति कन्दुकाः । 'गेन्दुकः कन्दुकः' इत्यमरः । तैः कन्दुकैः । कृत्रिमपुत्रकैः—क्रियया निवृत्ताः । कृत्रिमाः । पुत्रा इव प्रतिकृतयः इति पुत्रकाः। तैः कृत्रिमपुत्रकैः 'पाञ्चालिका पुत्रिका स्याद् वस्त्रदिन्तादिभिः कृता ।' इत्यमरः । रेमे—'रमु क्रीडायाम्' धातोः कर्तरि लिट् । अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः ।

भावार्थः—शैशवे सा क्रीडास्वादं भुञ्जानेन वयस्यानां मध्ये स्थित्वा मन्दाकिन्याः पुलिने वेदिकादिरचनाभिः कन्दुकैः वस्त्रदन्तादिनिर्मिताभिः पुत्तलिकाभिश्च मुहुः क्रीडितवती ।

भाषार्थ—बाल्यावस्था में मानो खेलों का स्वाद ले रही-सी पार्वती सखियों के बीच बैठकर मन्दाकिनी के बालू से भरे तट पर बैठने के लिए चबूतरों के निर्माणों से गेंदों से, और गुड़ियों से हर समय खेला करती थीं ॥ २९ ॥

तां हंसमालाः शरदीव गङ्गां महौषधिं नक्तमिवात्मभासः ।
स्थिरोपदेशामुपदेशकाले प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्याः ॥ ३० ॥

अन्वयः—शरदि गङ्गां हंसमाला इव, नक्तं महौषधिम् आत्मभास इव स्थिरोपदेशां तां उपदेशकाले प्राक्तनजन्मविद्याः प्रपेदिरे ।

व्याख्या—शरदि=वर्षावसाने, गङ्गाम्=जाह्नवीम्, हंसमाला=चक्राङ्गराजिः, इव=यथा, नक्तम्=रात्रौ, महौषधिम्=तृणविशेषम्, आत्मभासः=स्वदीप्तया, इव = यथा, स्थिरोपदेशाम् = स्थास्नुपूर्वजन्मोपदेशाम्, मेधाविनीम् इत्यर्थः । ताम्=पार्वतीम्, उपदेशकाले=शिक्षणसमये, प्राक्तनजन्मविद्याः=प्राग्भवीयाखिलविद्याः, प्रपेदिरे=प्राप्ताः ।

व्युत्पत्त्यादयः—शरदि—शीर्यन्तेऽस्यां पाकेनौषधय इति शरत् । 'शरत् स्त्री वत्सरेऽप्यृतौ ।' इति कोषः । तस्यां शरदि । गङ्गाम्—गच्छतीति गङ्गा । गङ्गा विष्णुपदी जह्नुतनया सुरनिम्नगा ।' इत्यमरः । ताम् । घ्नन्ति गच्छन्तीति हंसाः । 'हंसास्तु श्वेतगरुतश्चक्राङ्गा मानसौकसः' इत्यमरः । हंसानां माला हंसमालाः । नक्तम्—नञ्जनीति नक्तम् (अव्ययम्) । 'अथ दोषा च नक्तं च रजनाविति' इत्यमरः । महौषधिम्—महती चासावोषधिश्च महौषधिः तां महौषधिम् । आत्मभासः—आत्मनः भासः आत्मभासः । स्थिरोपदेशाम्—तिष्ठतीति स्थिरः । उपदिश्यते इति उपदेशः । स्थिर उपदेशः प्राग्भवीयो यस्याः सा ताम् 'स्थास्नुः स्थिरतरः स्थेयम्' इत्यमरः । उपदेशकाले—उपदेशस्य कालः उपदेशकालस्तस्मिन् उपदेशकाले । प्राक्तनजन्मविद्याः—प्राग्भवं प्राक्तनं च तज्जन्म इति प्राक्तनजन्म । विदन्ति याभिस्ता विद्याः । प्राक्तनजन्मः विद्याः प्राक्तनजन्मविद्याः । प्रपेदिरे—प्रपूर्वात् 'पद गतौ' धातोः कर्तरि लिट् । उपमानसामर्थ्याद् उपदेशमन्तरेणैव सर्वविद्याः शरदि गङ्गां हंसमाला इव नक्तं महौषधिं स्वदीप्तय इव स्वयं प्रापुरिति गम्यते । अत्रोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—यथा शरदि गङ्गा हंसराजयः प्राप्नुवन्ति, यथा च रात्रौ महौषधिं स्वदीप्तयः प्राप्नुवन्ति, तथैव प्राग्भवीयस्थिरतराभ्यासशालिनीं तां उपदेशसमये पूर्वजन्मन्यभ्यस्ता निखिला विद्याः प्रापुः ।

भाषार्थ—जैसे शरद ऋतु में हंसश्रेणियाँ गंगाजी में अपने आप चली आती हैं, जैसे रात्रि में महौषधियों की दीप्तियाँ, महौषधियों को प्राप्त होती हैं, वैसे ही

शिक्षा अवसर पर पूर्वजन्म के अमिट उपदेश से सम्पन्न पार्वती को पूर्व जन्म में अभ्यस्त सब विद्याएँ प्राप्त हुईं ॥ ३० ॥

असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य ।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साऽथ पयः प्रपेदे ॥ ३१ ॥

अन्वयः—अथ सा अङ्गयष्टेः सम्भृतं मण्डनम् अनासवाख्यं मदस्य करणं कामस्थ पुष्पव्यतिरिक्तम् अस्त्रं बाल्यात् परं वयः प्रपेदे ।

व्याख्या—अथ=अनन्तरम्, सा=पार्वती, अङ्गयष्टेः=तनुलतायाः; असम्भृतम्=निसर्गसिद्धम्,यत्नं विनैव निष्पन्नमित्यर्थः । मण्डनम्=विभूषणम्; अनासवाख्यम्=अमैरेयनाकम्, मदस्य=मत्तातायाः, करणम्=साधनम्, कामस्य =स्मरस्य, पुष्पव्यतिरिक्तम्=प्रसूनानामतिरिक्तम्, अस्त्रम्=विशिखास्त्रम्; बाल्यात्=शैशवात्, परम्=अनन्तरभावि, वयः=यौवनम्, प्रपेदे=प्राप ।

व्युत्पत्त्यादयः—अङ्गयष्टेः-यजते इति यष्टिः । अङ्गं यष्टिरिव अङ्गयष्टिः । तस्य अङ्गयष्टेः । असंभृतम्—समभारीति संभृतं न संभृतमसंभृतम् । मण्डनम्—मण्डयतेनेऽन तत् मण्डनम् । 'अलङ्कारस्त्वाभरणं परिष्कारो विभूषणम् । मण्डनं च' इत्यमरः । अनासवाख्यम्–आसव इति आख्या यस्य तद् आसवाख्यम् न आसवाख्यम् अनासवाख्यम् । मदस्य—मदनं मदः तस्य 'मदो गर्वो मत्तताया वीर्यो हर्षोभदानयोः ।' इति कोषः । करणम्–क्रियतेऽनेन तत् करणम् । 'करणं कारणे कार्ये साधनेन्द्रियकर्मसु ।' इत्यजयपालः । कामस्य—काम्यतेऽनेनेति कामः 'कामः स्मरेऽभिलाषे च कामं रेतोनिकामयोः ।' इति विश्वः । पुष्पव्यतिरिक्तम् व्यत्यरेचीति व्यतिरिक्तम् पुष्पेभ्यः व्यतिरिक्तम् पुष्पव्यतिरिक्तं प्रसूनभिन्न-मित्यर्थः अस्त्रम्–अस्यत इति अस्त्रम् । 'आयुधं तु प्रहरणम् शस्त्रमस्त्रम्' इत्यमरः । बाल्यात्बालस्य भावो बाल्यम् । 'शिशुत्वं शैशवं बाल्यम्' इत्यमरः । तस्माद् बाल्यात् । परम्—पूर्यतेऽनेन तत् परम् 'परः श्रेष्ठारिदूरान्योत्तरे क्लीबं तु केवले ।' इति मेदिनी । वयः—वयते वेतिः वा वयः । 'वयः पक्षिणि बाल्यादौ यौवने च नपुंसकम् ।' इति मेदिनी । प्रपेदे—प्रपूर्वात् 'पद् धातोः' कर्तरि लिट् । अत्र पूर्वार्द्धे द्वितीयपादे मदहेतोरावसस्यासत्त्वे तत्कार्यमदोक्तेर्विभावना, 'कारणाभावे कार्योत्पत्तिर्विभावना' इति तल्लक्षणात् । प्रथमतृतीयपादयोरारोप्यमाणयोर्मण्डनमदनास्त्रयोः प्रकृतोपयोगित्वात् परिणामालङ्कारः । 'आरोप्य-माणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः' इति तल्लक्षणात् ।

भावार्थः—तदनन्तरं पार्वती शरीरस्य नैसर्गिकं विभूषणं मदस्यासवनामहीनं साधनं स्मरस्य कुसुमभिन्नमस्त्रं शैशवानन्तरभावि यौवनं प्राप।

भाषार्थ—तदनन्तर पार्वती ने बाल्यावस्था के अनन्तर यौवन में, जो शरीर का अकृत्रिम आभरण है, मदिरा नाम के बिना[1] मादकता का साधन है और कामदेव का पुष्पभिन्न अस्त्र है, पदार्पण किया ॥ ३१ ॥

उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥ ३२ ॥

अन्वयः—नवयौवनेन विभक्तं तस्याः वपुः तूलिकया उन्मीलितं चित्रम् इव सूर्यांशुभिः भिन्नम् अरविन्दम् इव, चतुरस्रशोभि बभूव।

व्याख्या—नवयौवनेन=नूतनतारुण्येन, विभक्तम्=अभिव्यञ्जितम्, पीवरस्तनजघनसंस्थानमित्यर्थः। तस्याः=पार्वत्याः, वपुः=देहः, तूलिकया=कूर्चिकया, रङ्गजीवशलाकयेत्यर्थः। उन्मीलितम्=उल्लिखितम्, रङ्गरसेन समुत्कीर्णमित्यर्थः। चित्रम्=आलेख्यम्, इव=यथा, सूर्यांशुभिः=भास्कररश्मिभिः, भिन्नम्=सम्फुल्लम्, अरविन्दम्=नलिनम्, इव=यथा, चतुरस्रशोभि=अवैकल्यानाधिक्यदिव्यम्, बभूव=अजायत।

व्युत्पत्त्यादयः—नवयौवनेन नवं च तद् यौवनं नवयौवनं तेन नवयौवनेन। 'प्रत्यग्रोऽभिनवो नव्यो नवीनो नूतनो नवः।' इत्यमरः। विभक्तम् व्यभाजीति विभक्तम्, स्थलानुसारेण पीनत्वकृशत्वाभ्यां विभागीकृतम्। वपुः—वपति पुण्यपापे इति वपुः। 'गात्रं वपुः संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहः। कायो देहः' इत्यमरः। तूलिकया—तूल्यतेऽनया सा तूलिका। 'तूलिका कूर्चिकायां च शय्योपकरणेऽपि च' इति मेदिनी। उन्मीलितम्—उदमीलीति उन्मीलितम्। रञ्जनद्रव्येण उद्भासितम्, समुत्कीर्णरूपमित्यर्थः। चित्रम्—चिनोति चीयते वा चित्रम्। आलेख्याश्चर्ययोश्चित्रम्' इत्यमरः। सूर्यांशुभिः—सरति गगने इति सूर्यः, सुवति कर्मणि लोकं प्रेरयतीति वा सूर्यः। सूरसूर्यार्यमादित्यद्वादशात्म-दिवाकराः' इति सूर्यपर्यायेष्वमरः। अंशयन्तीति अंशवः। 'किरणोऽस्रमयूखांशुगभस्तिघृणिरश्मयः।' इत्यमरः। सूर्यस्य अंशवः सूर्यांशवः सूर्यांशुभिः। अरविन्दम्—अरं शीघ्रं लिप्सां स्वप्राप्तिविषयिणीं विन्दति जनयतीति अरविन्दम्, यद्वा अराकाराणि पत्राणि विन्दतीति अरविन्दम् 'नलिनमरविन्दं महोत्पलम्।' इत्यमरः।

---

१. मदिरा की-सी मादकता लाता है पर नाम उसका मदिरा नहीं है।

चतुरस्रशोभि[1]—चतस्रोऽस्रयो यस्य तत्, अस्यन्ते इति अस्रयो, चतस्रः अस्रयो यस्य तत् चतुरस्रं, यद्वा चत्वारोऽस्रा यस्य तत् चतुरस्रम्। 'अस्रः कोणे कचे पुंसि क्लीबमश्रुणि शोणिते।' इति मेदिनी। चतुरस्रमन्यूनानतिरिक्तं वैकल्याधिक्यशून्यं यथा स्यात्तथा शोभते इति चतुरस्रशोभि। यथा चित्रारविन्दयोस्तूलिकार्ककिरण-सम्बन्धोऽभिव्यञ्जको भवति तथैव स्वयंसिद्धस्य तस्याङ्गसौष्ठवस्य तारुण्यप्रादुर्भावोऽभिव्यञ्जको बभूवेत्यर्थः। अत्र मालोपमा।

भावार्थः—अभिनवयौवनेनाभिव्यञ्जितपीनस्तनजघनाद्यङ्गसंस्थानं तस्याः शरीरं चित्रलेखनशलाकया उद्भासितं चित्रमिव तरणिकिरणविकासितं नलिनमिव चतुरस्रशोभि बभूव।

भाषार्थ—नूतन यौवन ने बाल्यावस्था में निगूढ़ स्तन आदि अङ्गों को अभिव्यक्त कर दिया। अतएव पार्वती का शरीर तूलिका से रँगे हुए चित्र की भाँति और सूर्यरश्मियों से खिले हुए कमल के समान सर्वाङ्ग शोभित हुआ॥ ३२॥

देवानां चरणाङ्गुष्ठादारभ्य मानवानां चिकुरनिकरादारभ्य स्वरूपं वर्ण्यते इति सम्प्रदायविदः। तथा चेदानीं सप्तदशभिः श्लोकैः पार्वत्याः पादादिकेशान्ताङ्ग-वर्णनमारभते—

अभ्युन्नताङ्गुष्ठनखप्रभाभिर्निक्षेपणाद्रागमिवोद्गिरन्तौ।
आजह्रतुस्तस्तच्चरणौ पृथिव्यां स्थलारविन्दश्रियमव्यवस्थाम्॥ ३३॥

अन्वयः—अभ्युन्नताङ्गुष्ठनखप्रभाभिः निक्षेपणाद् रागम् उद्गिरन्तौ इव तच्चरणौ पृथिव्याम् अव्यवस्थां स्थलारविन्दश्रियम् आजह्रतुः।

व्याख्या—अभ्युन्नताङ्गुष्ठनखप्रभाभिः = अभ्युच्छ्रिताङ्गुष्ठनखरदीप्तिभिः (निमित्तेन), निक्षेपणात्=निर्भरन्यासाद् हेतोः, रागम्=अन्तर्गतं लौहित्यम्, उद्गिरन्तौ=उद्वमन्तौ बहिर्निस्सारयन्ताविव स्थितौ, तच्चरणौ=तदङ्घ्री, पृथिव्याम्=मेदिन्याम्, अव्यवस्थाम्=अवस्थितिरहिताम्, संचारिणीम् इत्यर्थः। स्थलारविन्दश्रियम्=स्थलकमलकान्तिम्। आजह्रतुः=आनिन्यतुः।

व्युपत्त्यादयः—अभ्युन्नताङ्गुष्ठनखप्रभाभिः=अङ्गौ अङ्गुशब्दोऽङ्गवाची, पाणौ तिष्ठति इति अङ्गुष्ठौ। 'पुंस्यङ्गुष्ठः प्रदेशिनी। मध्यमानामिका चापि कनिष्ठा चेति

[1]. 'चतुरस्रशोभि' इति पाठे अश्नन्ति अश्नुवन्तीति वा अक्षयः 'अश् भोजने' 'अशू व्याप्तौ' वा धातोः वङ्क्र्यादित्वात् 'वङ्क्र्यादयश्च' इति क्रिन्। चतस्रः अश्रयः अस्य सुप्रातसुश्वसुदिवशारिकुक्षचतुरस्रैणीपदा' इत्यादिनाच्प्रत्ययान्तो निपातः। इकारलोपश्च। अस्रिः कोणैकदेशयोः' इति धरणिः।

ताः क्रमात् ।' इत्यमरः—पञ्चाङ्गुलीनां क्रमेणैकं नाम । नखमस्येति नखम् । 'नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । अङ्गुष्ठयोः नखौ अङ्गुष्ठनखौ अभ्युन्नतौ च तौ अङ्गुष्ठनखौ अभ्युन्नताङ्गुष्ठनखौ तयोः प्रभाः ताभिः 'उच्चप्रांशून्नतोदग्रोच्छ्रितास्तुङ्गे ।' इत्यमरः । निक्षेपणात्—रागम्=रज्यतेऽनेनेति रागः । रागः क्लेशादिके रक्ते मात्सर्ये लोहितादिषु ।' इति शाश्वतः । उद्गिरन्तौ—उद्गिरत इति उद्गिरन्तौ । अत्रोद्गिरतेर्गौणार्थत्वाद् न ग्राम्यतादोषः प्रत्युत गुण एव । यथाऽऽह दण्डी—'निष्ठ्यूतोद्गीर्णवान्तादिगौणवृत्तिव्यपाश्रयम् । अतिसुन्दरमन्यत्र ग्राम्यकक्षां विगाहते ।।' इति । तच्चरणौ—चरन्त्याभ्यामिति चरणौ । तस्याश्चरणौ तच्चरणौ 'पादः पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम् ।' इत्यमरः । अव्यवस्थाम्—व्यवस्थानं व्यवस्था । नास्ति व्यवस्था अवस्थितिः यस्याः सा अव्यवस्था ताम् । स्थलारविन्दश्रियम् स्थलतीति स्थलम् । अरविन्दपदं व्याख्यातम् । श्रयतीति श्रीः । 'लक्ष्मीसरस्वतीधात्रीवर्गसम्पद्विभूतिशोभासु । उपकरणवेशरचनाविधानेषु च श्रीरिति प्रथिता ।।' इति व्याडिः । स्थलस्य अरविन्दं स्थलारविन्दं तस्य श्रीः स्थलारविन्दश्रीस्ताम् । आजह्रतुः आङ् पूर्वात् 'हृञ् हरणे' धातोः लिटि प्रथमपुरुषद्विवचनमिदम् । अत्र सामुद्रिकाः—

यस्या रक्ततलौ पादावुन्नताग्रौ तलस्पृशौ ।
निगूढगुल्फौ निहतौ सा स्यान्नृपतिसंमता ।।' इति ।।

अत्रोपमानधर्मस्यारविन्दश्रियश्चरणयोरुपमेययोरसंभवादरविन्दश्रियमिव श्रियमिति प्रतिबिम्बीकरणापेक्षान्निदर्शनालङ्कारः । तल्लक्षणं तु 'असंभवद्धर्मयोगादुपमानोपमेययोः प्रतिबिम्बक्रिया गम्या यत्र सा स्यान्निदर्शना । सा च सम्बन्धेऽप्यसम्बन्धलक्षातिशयोक्त्यनुप्राणिताऽव्यवस्थामित्यनेन स्थलारविन्दस्यस्थैर्यसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धाभिधानात् ।

भावार्थः—पार्वत्याश्चरणौ भुवि विन्यासाद् हेतोरन्तर्गतं रागमभ्युन्नतांगुष्ठनखयोररुणच्छविभिः बहिर्निस्सारयन्ताविव संचारिणीं स्थलकमललक्ष्मीं प्रापतुः ।

भावार्थ—पार्वती के चरण भूमि पर चलने के कारण भीतर संचित लालिमा का अङ्गुष्ठनखों की अरुण छवि से बाहर निकलते हुए-से पृथ्वी पर स्थिर न रहनेवाली स्थलकमलशोभा को प्राप्त हुए ।। ३३ ।।

सा राजहंसैरिव सन्नताङ्गी गतेषु लीलाञ्चितविक्रमेषु ।
व्यनीयत प्रत्युपदेशलुब्धैरादित्सुभिर्नूपुरशिञ्जितानि ॥ ३४ ॥

अन्वयः—प्रत्युपदेशलुब्धैः नूपुरशिञ्जितानि आदित्सुभिः राजहंसैः सन्नताङ्गी सा लीलाञ्चितविक्रमेषु गतेषु व्यनीयत इव ।

व्याख्या—प्रत्युपदेशलुब्धैः=प्रतिरूपोपदेशलोलुपैः । नूपुरशिञ्जितानि= मञ्जीरक्वणितानि, आदित्सुभिः=जिघृक्षुभिः, राजहंसैः=स्वयं श्वेतैः लोहित चञ्चुचरणैर्हंसविशेषैः, सन्नताङ्गी=स्तनभारादवनताङ्गयष्टिः, सा=पार्वती, लीलाञ्चितविक्रमेषु=सविलासपादन्यासेषु, गतेषु=गमनेषु, व्यनीयत इव= विनीता किम् । अन्यथा कथमियं हंसगतिरित्युत्प्रेक्षा ।

व्युत्पत्त्यादयः—प्रत्युपदेशलुब्धैः—प्रतिरूप उपदेशः प्रत्युपदेशः प्रत्युपदेशे लुब्धाः प्रत्युपदेशलुब्धास्तैः प्रत्युपदेशलुब्धैः । 'गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा । अथवा विद्यया विद्या चतुर्थी नोपपद्यते ॥' इति न्यायादिति भावः । नूपुर-शिञ्जितानि—नूयते इति नूः । नवि पुरत इति नूपुरो 'पादाङ्गदं तुलाकोटिर्मञ्जीरो नूपुरोऽस्त्रियाम् ।' इत्यमरः । 'भूषणानां तु शिञ्जितम् । निक्वाणो निक्वणः क्वाणः क्वणः क्वणनमित्यपि ।' इत्यमरः । नूपुरयोः शिञ्जितानि नूपुरशिञ्जि-तानि । आदित्सुभिः—आदातुमिच्छन्तीति आदित्सन्ति आदित्सन्तीति आदित्सवः तैः । राजहंसैः—हंसानां राजान इति राजहंसास्तैः । 'हंसास्तु श्वेतगरुतः ।' इत्युपक्रम्य 'राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिताः ।' इत्यमरः । सन्नताङ्गी—सन्नतमङ्गं यस्याः सा सन्नताङ्गी । 'अवाग्रेऽवनतानते ।' इत्यमरः । लीलाञ्चित-विक्रमेषु—लीलाभिः अञ्चिता लीलाञ्चिता विक्रमा येषु तानि लीलाञ्चित-विक्रमाणि, तेषु लीलाञ्चितविक्रमेषु । 'लीलाविलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः किल किञ्चितम् । मोट्टायितुं कुट्टमितं विब्बोको ललितं तथा । विहृतं चेति विज्ञेया दश स्त्रीणां स्वभावजाः ।' इति न टकरत्नकोशः । 'पूजितेऽञ्चितः' इत्यमरः । गतेषु—गमनानि गतानि तेषु । वैषयिकसप्तमीयम् । व्यनीयत—विपूर्वात् 'णीञ् प्रापणे' धातोः कर्मणि लङ् । उत्प्रेक्षालङ्कारः लक्षणं पूर्वमुक्तम् ।

भावार्थः—'अथवा विद्यया विद्या' इति न्यायाद् इमां स्वगतिमुपदिश्य अस्या मञ्जीरशिञ्जितान्यादास्याम इति विचार्य राजहंसैरानताङ्गी सा विभ्रमार्चित-पादविन्यासेषु गमनेषु विषये नूनं शिक्षिता । अत एव अस्याः गति । हंसगतिस-दृशी विद्यते ।

भाषार्थ—तीन प्रकार से विद्या प्राप्त की जा सकती है, गुरुसेवा से, पुष्कल धन से अथवा किसी विद्या के विनिमय से, विद्याप्राप्ति का चौथा उपाय नहीं है। इस न्याय के अनुसार इसे अपनी चाल सिखा कर इससे नूपुरों की झनकार सीखेंगे, यह विचार कर राजहंसों ने पार्वती को लीलापूर्वक गमनों की शिक्षा दी, इसी लिए पार्वती का गमन हंसों की चाल से मिलता-जुलता है। ३४ ॥

वृत्तानुपूर्वे च न चातिदीर्घे जङ्घे शुभे सृष्टवतस्तदीये।
शेषाङ्गनिर्माणविधौ विधातुर्लावण्य उत्पाद्य इवास यत्न॥ ३५॥

अन्वयः—वृत्तानुपूर्वे न च अतिदीर्घे च तदीये शुभे जङ्घे सृष्टवतः विधातुः शेषाङ्गनिर्माणविधौ उत्पाद्ये लावण्ये यत्नः आस इव।

व्याख्या—वृत्तानुपूर्वे=वर्तुलपूर्वानुगते गोपुच्छाकारे, न च=नापि, अतिदीर्घे=मध्यमपरिमाणे, च=अपि, तदीये=तत्सम्बन्धिन्यौ, शुभे=शोभने मङ्गले इत्यर्थः। जङ्घे=प्रसृते, सृष्टवतः=निर्मितवतः, विधातुः=स्रष्टुः शेषाङ्गनिर्माणविधौ=जङ्घातिरिक्तावयवनिर्माणार्थम्, उत्पाद्ये=पुनः सम्पाद्ये, लावण्ये=कान्तिविषये, यत्नः=उद्यमः, आस इव=बभूव इव।

व्युत्पत्त्यादयः—वृत्तानुपूर्वे=पूर्वमनुगते अनुपूर्वे। वृत्ते च ते अनुपूर्वे वृत्तानुपूर्वे 'वर्तुलं निस्तलं वृत्तम्।' इत्यमरः। अतिदीर्घे–अतिशयिते दीर्घे अतिदीर्घे, शुभे–शोभते इति शुभे। 'श्वश्रेयस शिवं भद्रं कल्याणं मङ्गलं शुभम्।' इत्यमरः। तदीये–तस्याः इमे तदीये। जङ्घे जायेते इति जङ्घे, जनेः जङ्घादेशश्च 'जङ्घा तु प्रसृता' इत्यमरः। सृष्टवतः–ससर्ज इति सृष्टवान्। तस्य सृष्टवतः। विधातुः–विदधातीति विधाता। 'स्रष्टा प्रजापतिर्वेधा विधाता विश्वसृड् विधिः।' इत्यमरः। शेषाङ्गनिर्माणविधौ–शेषाणि जङ्घाव्यतिरिक्तानि च तान्यङ्गानि तेषां निर्माणं निर्मितिः विधीयतेऽनेन विधिः। तस्य विधिस्तस्मिन् शेषाङ्गनिर्माणविधौ। उत्पाद्ये—उत्पादयितुं योग्यमुत्पाद्यम् तस्मिन्, पूर्वमुत्पादितानां लावण्यानां तज्जङ्घानिर्माण एव निश्शेषत्वाज्जङ्घातिरिक्तानामङ्गानां निर्माणार्थं पुनरुत्पाद्ये इति भावः। लावण्ये–लवणा त्विट् सैव लावण्यं कान्तिविशेषः, तस्मिन्। आस इव बभूवेवेत्युत्प्रेक्षा 'आसेति बभूवार्थे तिङन्तप्रतिरूपकमव्ययम्' इत्याह शाकटायनः। वल्लभस्तु 'न तिङन्तप्रतिरूपकमव्ययम्, 'अस्तेर्भूः' इति भ्वादेशनियमात्तादृक्तिङन्तस्यैवाभावात्। किन्तु कवीनामयं प्रामादिकः प्रयोग इत्याह वामनस्तु 'अस गतिदीप्त्यादानेषु' इति धातोर्लिटि रूपमिदमित्याह 'अस' इत्यनुदात्तेद्दीप्त्यर्थे। आसदिदीपे प्रवृत्त इत्यर्थः।

भावार्थः—नातिदीर्घे नातिह्रस्वे वर्तुले अनुपूर्वे च तस्याः शुभे जंघे यदा विधाता सृष्टवान् तदा तस्याशेषलावण्यसंचयो व्ययीभूतः। शेषाङ्गानां निर्माणार्थं पुनर्लावण्यसम्पादनाय तस्य यत्नः प्रवृत्तः।

भाषार्थ—ब्रह्माजी ने पार्वतीजी के न बहुत लम्बे और न बहुत छोटे मझोले आकार के गोल गोपुच्छाकार जङ्घाओं को बनाया तो उनका लावण्य का सारा

भण्डार निःशेष हो गया। शेष अंगों के निर्माण के लिये उन्हें फिर लावण्य की तैयारी के लिए यत्नशील होना पड़ा ॥ ३५ ॥

नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशत्वादेकान्तशैत्यात्कदलीविशेषाः ।
लब्ध्वापि लोके परिणाहि रूपं जातास्तदूर्वोरुपमानबाह्याः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—नागेन्द्रहस्ताः त्वचि कर्कशत्वात् कदलीविशेषा एकान्तशैत्यात् लोके परिणाहि रूपं लब्ध्वा अपि तदूर्वोः उपमानबाह्या जाताः ।

व्याख्या—नागेन्द्रहस्ताः = गजेन्द्रशुण्डादण्डाः, ऐरावतादिकरा इत्यर्थः । त्वचि=चर्मणि, कर्कशत्वात्=काठिन्यात्, कदलीविशेषाः=वारणबुसाभेदाः रामरम्भादयः, एकान्तशैत्यात्=नियतशीतत्वात् (हेतोः), लोके=जगति, परिणाहि=वैपुल्यान्वितम्, रूपम=स्वरूपम्, लब्ध्वा अपि=प्राप्य अपि, अपिशब्दः करिकदलीमात्रस्य तादृक् परिणाहो नास्तीतिं द्योतयति । तदूर्वोः=पार्वतीसक्थ्नोः उपमानबाह्याः=उपमानानर्हा जाताः=संवृत्ताः ।

व्युत्पत्त्यादयः—नागेन्द्रहस्ताः—नागानाम् इन्द्रा नागेन्द्रा नागेन्द्राणां हस्ता नागेन्द्रहस्ताः । 'गजेऽपि नागमातङ्गौ' इत्यमरः । त्वचि त्वचतीति त्वक् । 'त्वक् स्त्री चर्मणि वल्के च गुणत्वचि विशेषतः ।' इति मेदिनी । तस्यां त्वचि । कर्कशत्वात्—कर्कशस्य भावः कर्कशत्वं तस्मात् कर्कशत्वात् । कदलीविशेषा केन वायुना दल्यन्ते इति कदल्यः । कदलीनां विशेषाः कदलीविशेषाः विशिष्यन्ते इति विशेषा भेदाः । एकान्तशैत्यात्—एकः अन्तो निश्चयो यत्र तद् एकान्तम् 'अतिवेलभृशात्यर्थातिमात्रोद्गाढनिर्भरम् । तीव्रैकान्तनितान्तानि गाढबाढदृढानि च ॥' इत्यमरः । शीतस्य भावः शैत्यं शीतलत्वम् एकान्तं च तच्छैत्यमेकान्तशैत्यं तस्मात् एकान्तशैत्याद् हेतोः परिणाहि—परिणह्यतेऽनेनेति परिणाहः । परिणाहोऽस्यास्तीति परिणाहि । 'परिणाहो विशालता' इत्यमरः । वैपुल्ययुक्तामित्यर्थः । रूपम्—रोपयति विमोहयतीति रूपम् । 'रूपं स्वभावे सौन्दर्ये नाणके पशुशब्दयोः । ग्रन्थावृत्तौ नाटकादावाकारश्लोकयोरपि ॥" इति विश्वः । लब्ध्वापि—प्राप्यापि अपिशब्दात्करिकदलीमात्रस्य तादृक् परिणाहो नास्तीति भावः । लोके—'लोकस्तु भुवनेजने' इत्यमरः । तदूर्वोः—तस्याः ऊरू तदुरू तयोस्तदूर्वोः । अर्यते याभ्यां तौ ऊरू 'सक्थि क्लीबे पुमानूरुः' इत्यमरः । उपमानबाह्या—उपमीयतेऽनेन तद् उपमानम् । बहिर्भवा बाह्याः । उपमाने बाह्या उपमानबाह्या उपमानानर्हा जाता इत्यर्थः । अत्र उपमानभूतानां करीन्द्रकरकदलीविशेषाणामपेक्षया उपमेयभूतयोः तदूर्वोराधिक्यवर्णनाद् व्यतिरेकालङ्कारः । तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'उपमानाद्—यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः ।' इति ।

भावार्थः—परिणाहिरूपवतां करीन्द्रकराणां कदलीविशेषाणां चापाततः तस्या ऊर्वोरुपमानयोग्यता दृश्यते स्म, किन्तु त्वचि कार्कश्यात्करीन्द्रकरा नितान्त-शीतलत्वात्कदली विशेषाश्च सुकोमलयोः सुशीतलयोश्च तयोरुपमानानर्हा जाताः।

भावार्थ—पार्वती के विपुल ऊरुओं के उपमान होने की क्षमता ऐरावतादि गजेन्द्रों की सूड़ों में या रामकदली के काण्डों मे ही संभावित थी, किन्तु कठोर चर्मवाले होने के कारण गजराजों की सूँड और अत्यन्त शीतल होने के कारण-रामकदली के काण्ड लोक में विशालता से सम्पन्न रूप पाकर भी सुकोमल और सुशीतल ऊरुओं के उपमान न बन सके ॥ ३६ ॥

एतावता नन्वनुमेयशोभि काञ्चीगुणस्थानमनिन्दितायाः।
आरोपितं यद् गिरिशेन पश्चादनन्यनारीकमनीयमङ्कम् ॥३७॥

अन्वयः—अनिन्दितायाः काञ्चीगुणस्थानम् एतावता ननु अनुमेयशोभि यद् पश्चात् गिरिशेन अनन्यनारीकमनीयम् अङ्कम् आरोपितम्।

व्याख्या—अनिन्दितायाः=अनवद्यायाः पार्वत्या इत्यर्थः। काञ्चीगुणस्थानम्=रशनादामस्थलम्, श्रोणिमण्डलमिति यावत्, एतावता ननु=एतावतैव, इयतालिङ्गेनैवेत्यर्थः। अनुमेयशोभि=अनुमाननिश्चेयाभम्, यत्=यस्मात् कारणात्, पश्चात्=अनन्तरम्, पूर्वं नैस्पृह्येऽपि पश्चात् परिणयानन्तरमित्यर्थः। गिरिशेन= महादेवेन, अनन्यनारीकथनीयम्=अपरयोषासुलभाभिलाषम्, अङ्कम्=उत्सङ्गम्, आरोपितम्=अधिष्ठापितम्।

व्युत्पत्त्यादयः—अनिन्दितायाः—अनिन्दीति निन्दिता न निन्दिता अनिन्दिता तस्या अनिन्दितायाः प्रशस्तायाः। काञ्चीगुणस्थानम्—काञ्चने बध्नाति श्रोणितट-मिति काञ्ची। 'काञ्ची स्यान्मेखलादाम्नि प्रभेदे नगरस्य च।' इति मेदिनी। काञ्ची एव गुणो नाम काञ्चीगुणः। गुण्यते इति गुणः। 'गुणो मौर्व्यामप्रधाने रूपादौ सूद इन्द्रिये। त्यागशौर्यादिसत्त्वादिसन्ध्याद्यावृत्तिरज्जुषु॥' इति मेदिनी। स्थीयते यत्र तत्स्थानम्। 'अवकाशे स्थितौ स्थानम्' इत्यमरः। काञ्चीगुणस्य स्थानं काञ्ची-णस्थानम्। एतावता—एतत्परिमाणं यस्य तत् एतावत् तेन एतावता। ननु—एव 'प्रश्नावधारणानुज्ञानुनयामन्त्रणे ननु।' इत्यमरः। अनुमेयशोभि—अनुमातुं योग्य-मनुमेयम्। शोभते इति शोभि तस्य भावः शोभित्वम्। आवश्यके णिनिस्ततस्त्व-प्रत्ययः। अनुमेयं शोभित्वं शोभा यस्य तद् अनुमेयशोभि। त्वप्रत्ययस्तु गतार्थत्वान्न प्रयुक्त इत्याह वामनः। यत् 'यत्तद्यतस्तो हेतौ' इत्यमरः। पश्चात्—'प्रतीच्यां चरमे पश्चात्' इत्यमरः। आदौ नैस्पृह्येऽपि तपश्चरणानन्तमिति भावः। गिरिशेन—

गिरौ शेते इति गिरिशः। यद्वा गिरिराश्रयत्वेनास्यास्तीति गिरिशः। 'गिरीशो गिरिशो मृडः' इत्यमरः। तेन गिरिशेन। अनन्यनारीकमनीयम्—कामयितुं शक्यः कमनीयः अन्यासां नारीणां कमनीयो न भवतीति अनन्यनारीकमनीयस्तमनन्य-नारीकमनीयम्। 'स्त्री योषिदबला योषा नारी सीमन्तिनी वधूः।' इत्यमरः। अङ्कम्—अङ्क्यतेऽस्मिन्निति अङ्कः। तम्। 'अङ्कः स्थानेऽन्तिके मन्तौ रूपकोत्स-ङ्गलक्ष्मसु। नाटिकादिपरिच्छेदे चित्रयुद्धे च भूषणे।' इति विश्वः आरोपितम्—आङ्पूर्वात् रुह धातोर्ण्यन्तात् कर्मणि क्तः। 'रुहः पोऽन्यतरस्याम्' इत्यनेन हकारस्य पकारः। गत्यर्थविवक्षायां द्विकर्मकत्वम्। प्रधाने कर्मणि क्तः। तस्याः काञ्चीगुणस्थानविशेषाभायाः साधकमनुमानन्त्वित्थम्—'प्रशस्तायास्तस्याः श्रोणि-मण्डलं विश्वातिशायिसौन्दर्यं गिरिशाङ्काधिरोपितत्वात् व्यतिरेकेण नार्यन्तश्रोणि-मण्डलवत्' इति। अत्रानुमानालङ्कारः। 'अनुमाननं तदुक्तं यत्साध्यसाधनयोर्वचः' इति तल्लक्षणात्।

भावार्थः—प्रशस्तायाः पार्वत्याः श्रोणिमण्डलस्य एतावतैव विश्वातिशायि-सौन्दर्यमनुमातुं शक्यते यद्भगवता चन्द्रशेखरेण अनन्ययोषिदभिलषणीयं निजाङ्कं तदधिरोपितम्।

भाषार्थ—परमश्लाघनीय पार्वती के श्रोणिमण्डल की शोभा सबसे बढ़ी-चढ़ी है। इसका इतने से ही अनुमान किया जा सकता है कि उसे शंकरजी ने अन्य स्त्रियों के लिए परम दुर्लभ अपनी गोद में बैठाया ॥ ३७ ॥

> तस्याः प्रविष्टा नतनाभिरन्ध्रं रराज तन्वी नवलोमराजिः।
> नीवीमतिक्रम्य सितेतरस्य तन्मेखलामध्यमणेरिवार्चिः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—नीवीम् अतिक्रम्य नतनाभिरन्ध्रं प्रविष्टा तन्वी तस्या नवलोमराजिः सितेतरस्य तन्मेखलामध्यमणेः अर्चिः इव रराज।

व्याख्या—नीवीम्=श्रोणिवसनग्रन्थिम्, अतिक्रम्य=अतीत्य, उल्लङ्घ्येत्यर्थः। नतनाभिरन्ध्रम्=गभीरनाभिविवरम्, प्रविष्टा=गता, तन्वी=सूक्ष्मा, तस्याः= पार्वत्याः, नवलोमराजिः–अभिनवरोमरेखा, सितेतरस्य=शुभ्रभिन्नस्य इन्द्रनील-स्येत्यर्थः। तन्मेखलामध्यमणेः=पार्वतीरशनामध्यरत्नस्य, अर्चिः=प्रभा, इव= तथा, रराज=शुशुभे।

व्युत्पत्त्यादयः—नीवीम्—निव्यतीति नीवी ताम्। 'स्त्रीकटीवस्त्रबन्धेऽपि नीवी परिपणेऽपि च।' इत्यमरः। नतनाभिरन्ध्रम्–नभ्यतेऽस्यां स नाभिः 'नाभि र्मुख्यनृपे चक्रमध्यक्षत्रिययोः पुमान्। द्वयोः प्राणिप्रतीके स्यात्स्त्रियां कस्तूरिका-मदे॥' इति मेदिनी। नाभे रन्ध्रं नाभिरन्ध्रम्। अनंसीदिति नतम्। नतं च

तन्नाभिरन्ध्रं नतनाभिरन्ध्रम् । 'नतं तगरराठ्यां स्यात्क्लीवं कुटिलनम्रयोः । त्रिषु' इति मेदिनी । प्रविष्टा प्राविक्षत् इति प्रविष्टा । तन्वी—तन्यते इति तन्वी 'तनुः काये त्वचि स्त्री स्यात् त्रिष्वल्पे विरले कृशे ।' इति विश्वः । नवलोमराजिः— लूयन्ते इति लोमानि 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति मनिन् । लोम्नां राजिः लोमराजिः । राजतीति राजिः औणादिक इन्प्रत्ययः । 'तनूरुहं रोम लोम ।' 'लेखास्तु राजयः' इत्युभयत्राऽमरः । नवा चासौ लोमराजिश्च नवलोमराजिः 'नवीनो नूतनो नवः' इत्यमरः । सितेतरस्य—सितादितरः सितेतरस्तस्य सितेतरस्य । 'अवदातः सितो गौरोऽवलक्षो धवलोऽर्जुनः ।' इत्यमरः । तन्मेखलामध्यमणेः—मह्यते पूज्यते इति मध्यः । मण्यते प्रशस्यते इति मणिः । 'रत्नं मणिर्द्वयोरश्मजातौ मुक्तादिकेऽपि च ।' इत्यमरः । मध्यश्चासौ मणिर्मध्यमणिः तस्या मेखलाया मध्यमणिः तन्मेखलामध्यमणिस्तस्य । स्त्रीकट्यां मेखला काञ्ची सप्तकी रशना तथा ।' इत्यमरः । तस्याः इत्यनुवृत्तौ पुनः तच्छब्दोपादानं वाक्य भेदात्सोढव्यम् । यद्वा तस्या नीव्या मेखला तन्मेखला तत्र तद्योजनीयम् । अर्चिः— अर्च्यते इति अर्चिः । 'ज्वालाभासो नपुंस्यर्चिः' इत्यमरः । अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः ।

भावार्थः—कटिवसनग्रन्थिमतीत्य गभीरनाभिविवरं गता तस्यास्तन्वी नवीनरोमराजिः काञ्चीमध्यगतस्य महत इन्द्रनीलमणेरर्चिरिव बभासे ।

भाषार्थ—साड़ी बाँधने की जगह से आगे बढ़कर गहरी नाभि में प्रविष्ट हुई उसकी पतली रोमरेखा करधनी के बीच की महा इन्द्रनील मणि की प्रभा सी प्रतीत होती थी ।। ३८ ।।

मध्येन सा वेदिविलग्नमध्या बलित्रयं चारु बभार बाला ।
आरोहणार्थं नवयौवनेन कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम् ।। ३९ ।

अन्वयः—वेदिविलग्नमध्या सा बाला मध्येन चारु बलित्रयं कामस्य आरोहणार्थं नवयौवनेन प्रयुक्तं सोपानमिव बभार ।

व्याख्या—वेदिविलग्नमध्या = डमर्वाद्याकारवेदिकृशमध्या, तनुमध्येत्यर्थः । सा = पार्वतीरूपा, बाला = षोडशाब्दा, मध्येन = अवलग्नेन, चारु = मनोरमम्, बलित्रयम् = तिस्रो बलीः, कामस्य = कन्दर्पस्य, आरोहणार्थम् = अधिरोहणार्थम्, आरोढुमित्यर्थः । नवयौवनेन = नव्यतारुण्येन, प्रयुक्तम् = निर्मितम्, सोपानम् = निःश्रेणिम्, इव = तथा, बभार = दधार ।

व्युत्पत्त्यादयः—वेदिविलग्नमध्या—वेदयति वेद्यते वा वेदिः । 'वेदिः स्यात् पण्डिते पुमान् । 'स्त्रियामङ्गुलिमुद्रायां स्यात्परिष्कृतभूतले ।।' इति मेदिनी । कृशः

वेदिरिव डमर्वाद्याकारवेदिवत् विलग्नः मध्यो यस्याः सा 'मध्यमं चावलग्नं च मध्योऽस्त्री' इत्यमरः, । यद्वा वेदिरङ्गुलिमुद्रा तस्या विशेषेण लग्नो मध्यो यस्याः सा । यद्वा वेद्या विशेषेण लग्नः मध्यः मध्यभागो यस्याः सा । 'अवलग्नोऽस्त्रियां मध्ये त्रिषु स्याल्लग्नमात्रके' इति मेदिनी । 'मध्योऽवलग्न विलग्नं मध्यमः' इति नाममाला । बलते इति बाला । पोडशवार्षिकीत्यर्थः । 'बाला स्यात् षोडशाब्दा' इति कामशास्त्रात् । मध्येन—'मह्यते' इति मध्यस्तेन । चारु—चित्ते चरतीति चारु । 'सुन्दर रुचिरं चारु सुषमं साधु शोभनम् ।' इत्यमरः । बलित्रयम्—त्रयोऽवयवा यस्य तत् त्रयम् । बलीनां त्रयं बलित्रयम् । 'करोपहारयोः पुंसि बलिः पाण्यङ्गजे स्त्रियाम् ।' इत्यमरः । कामः—काम्यतेऽनेनेति कामः । 'कन्दर्पो दर्पकोऽनङ्गः कामः पञ्चशरः स्मरः ।' इत्यमरः । आरोहणार्थम्—आरोहणाय इदम् आरोहणार्थम् । नवयौवनेन—नवं च तत् यौवनं नवयौवनं तेन तवयौवनेन । 'तारुण्य यौवनं समे' इत्यमरः । प्रयुक्तम्—प्रायोजीति प्रयुक्तम् । सोपानम्—सह विद्यमानं उप उपरि आनो गमनमनेनेति सोपानम् । 'आरोहणं स्यात्सोपानम्' इत्यमरः । बभ र—'डुभृञ् धारणपोषणयोः' धातोः कर्त्तरि लिट् । अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः ।

भावार्थः—ननु मध्या षोडशवर्षदेशीया सा पार्वती मध्मेन मञ्जुलां त्रिवलीं नूतनतारुण्येन कामदेवस्यारोहणार्थं निर्मितां निःश्रेणिमिव धृतवती ।

भाषार्थ—पतली कमर वाली षोडषी पार्वती ने मध्यभाग में मनोहर त्रिवली धारण की; मानो वह नूतन युवावस्था द्वारा कामदेव के चढ़ने के लिए बनाई गयी सीढ़ी थी ।। ३९ ।।

> **अन्योन्यमुत्पीडयदुत्पलाक्ष्याः स्तनद्वयं पाण्डु तथा प्रवृद्धम् ।**
> **मध्ये यथा श्याममुखस्य तस्य मृणालसूत्रान्तरमप्यलभ्यम् ॥ ४० ॥**

अन्वयः—अन्योन्यम् उत्पीडयत् पाण्डु उत्पलाक्ष्याः स्तनद्वयं तथा प्रवृद्धम्, यथा श्याममुखस्य तस्य मध्ये मृणालसूत्रान्तरम् अपि अलभ्यम् ।

व्याख्या—अन्योन्यम्=परस्परम्, उत्पीडयत्=उपरुन्धत्, पाण्डु=पाण्डुरम्, पीतसंवलितशुभ्रमित्यर्थः । उत्पलाक्ष्याः=पुष्कराक्ष्याः, स्तनद्वयम्=कुचद्वितयम्, तथा=तेन प्रकारेणः प्रवृद्धम्=वैपुल्यमुपगतम्, यथा=येन प्रकारेण, श्याममुखस्य =असितवदनस्य, मेचकचूचुकस्येस्यर्थः, तस्य=स्तनद्वयस्य, मध्ये=अन्तराले मृणालसूत्रान्तरम्, अपि=विसतन्तुमात्रावकाशोऽपि, अलभ्यम्=लब्धुमशक्यम् ।

व्युत्पत्त्यादयः—उत्पीडयत्=उत्पीडयतीति उत्पीडयत् । स्वीयपरिणाहेन उत्खेदयत् । पाण्डु—पाण्ड्यते ज्ञायते इति । 'पाण्डुस्तु पीतभागार्धः केतकीधूलि—

संनिभः ।' इति शब्दार्णवः । उत्पलाक्ष्याः—उत्पले इवाक्षिणी यस्याः सा उत्पलाक्षी तस्याः । 'उत्पलं कुष्टभूरुहे । इन्दीवरे मांसशून्ये' इति हैमः । 'लोचनं नयनं नेत्रमीक्षणं चक्षुरक्षिणी ।' इत्यमरः । स्तनद्वयम्—द्वौ अवयवौ यस्य तद् द्वयं स्तनानां द्वयं स्तनद्वयम् । तथा—तेन प्रकारेणेति तथा । 'व वा यथा तथैवैवं साम्ये' इत्यमरः । प्रवृद्धम्—प्रावर्धिष्टेति प्रवृद्धम् । 'प्रवृद्धप्रसृते' इत्यमरः । यथा—येन प्रकारेणेति यथा तथावत् । श्याममुखस्य—श्यायते मनो यस्मिन्निति श्यामम् । 'कृष्णे नीलासितश्यामकालश्यामलमेचकाः ।' इत्यमरः । श्यामं मुखं वदनं यस्य तत् श्यामः मुखम् 'वक्रास्ये वदनं तुंडमाननं लपनं मुखम्' । इत्यमरः। तस्य श्याममुखस्य । मध्ये- 'न्याय्यावलग्नयोर्मध्यमन्तरे चाधमे त्रिषु' इति रभसः मृणालसूत्रान्तरम्—मृण्यते इति मृणालम् 'मृणालं नलदे क्लीबं पुन्नपुंसकयोर्बिसे' इति मेदिनी । सीव्यतेऽनेनेति सूत्रम् । 'सूत्राणि नरि तन्तवः' इत्यमरः । अन्तं रातीति—अन्तरम् मृणालस्य सूत्रं मृणालसूत्रं मृणालसूत्रस्य अन्तरं मृणालसूत्रान्तरम् 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये ।' इत्यमरः । अलभ्यम्—लब्धुं शक्यं लभ्यं न लभ्यमलभ्यम् 'लभ्यं युक्ते च लब्धव्ये' इति मेदिनी । अत्र सम्बन्धेऽसम्बन्धरूपातिशयोक्तिः, स्तनयोर्वैपुल्यातिशयार्थमवकाशसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धप्रतिपादनात् ।

भावार्थः—उत्पलाक्ष्याः पार्वत्याः श्याममुखो गौरौ स्तनौ परस्परमुत्पीडयन्तौ तथा प्रवृद्धौ यथा तयोर्मध्ये मृणालतन्तोरतिसूक्ष्मस्याप्यवकाशो दुर्लभो जातः ।

भाषार्थ—कमलनयनी पार्वती के बढ़ने के कारण परस्पर एक दूसरे से टकराते हुए गोरे स्तन ऐसे बढ़े कि काले मुखवाले उनके बीच में कमलनाल की महीन तांत के लिए भी अवकाश नहीं रहा ॥ ४० ॥

शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यौ बाहू तदीयाविति मे वितर्कः ।
पराजितेनापि कृतौ हरस्य यौ कण्ठपाशौ मकरध्वजेन ॥ ४१ ॥

अन्वयः—तदीयौ बाहू शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्य्यौ इति मे वितर्कः (कुतः) पराजितेन अपि मकरध्वजेन यौ हरस्य कण्ठपाशौ कृतौ ।

व्याख्या—तदीयौ=पार्वतीसम्बन्धिनौ, बाहू=भुजौ, शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्य्यौ=कपीतनकुसुमाधिककोमलौ, इति=ईदृशः, मे=मम, वितर्कः=अध्याहारः, ऊह इत्यर्थः । (अस्ति) (कुतः) यौ=तदीयौ बाहू पराजितेन अपि= निर्जितेन कामेनेत्यर्थः, हरस्य,=शङ्करस्य, कण्ठपाशौ=कण्ठ-बन्धनरज्जू, कृतौ= विहितौ, कण्ठालिङ्गनं प्रापितावित्यर्थः ।

व्युत्पत्त्यादयः—तदीयौ—तस्या इमौ तदीयौ । बाहू—बाधेते इति बाहू

'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः स्यात्' इत्यमरः। शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यौ—'शृ हिंसायां' धातोः ईषन्। शीर्यते इति शिरीषः। 'शिरीषस्तु कपीतनः। मण्डिलोऽपि' इत्यमरः। सुकुमारस्य भावः सौकुमार्यम्। 'सुकुमारं तु कोमलं मृदुलं मृदु।' इत्यमरः। शिरीषस्य पुष्पं शिरीषपुष्पं शिरीषपुष्पादधिकं सौकुमार्यं ययोस्तौ 'शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यौ। इति—'इति प्रकरणे हेतौ प्रकाशादिसमाप्तिषु। निदर्शने प्रकारे स्यादनुत्कर्षे च सम्मतम्॥' इति विश्वः। वितर्कः—तर्कणं तर्कः 'तर्क भाषार्थः' धातोः भावे घञ्। विशिष्टस्तर्कः। 'अध्याहारस्तर्क ऊहः' इत्यमरः। पराजितेन–पराजयतीति पराजितः 'पराजितपराभूतौ' इत्यमरः। तेन पराजितेन। मकरध्वजेन—मङ्क्ते इति मकः मकं शोभां रातीति मकरः। ध्वजतीति ध्वजः। 'पताका वैजयन्ति स्यात्केतनं ध्वजमस्त्रियाम्'। तद्भेदा शिशुमारोद्रशङ्कवो मकरादयः।' इत्युभयत्रामरः। मकरः ध्वजो यस्य स मकरध्वजस्तेन 'पुष्पधन्वारतिपतिर्मकरध्वज आत्मभूः।' इत्यमरः। कण्ठपाशौ — कणति कण्ठते वा कण्ठः। 'कण्ठो गलः' इत्यमरः। पाश्यतेऽनेतेति पाशः 'पाशस्तु मृगपश्वादिबन्धने। कर्णान्ते शोभनार्थः स्यात् कचान्ते निकरार्थकः। छात्राद्यन्ते च निन्दार्थः' इति हैमः। कृतौ–अकारिषाताम् इति कृतौ 'डुकृञ्' धातोः कर्मणि क्तः। शिरीषसुमनोऽसाध्यसाधनात्ततस्तयोराधिक्यमिति भावः। अत्र बाह्वोरारोपितकण्ठपाशत्वस्य प्रकृतवैरनिर्यातनोपयोगाद् परिणामालंकारः।

भावार्थः—पार्वत्या भुजौ शिरीषकुसुमादप्यधिककोमलावास्तामिति मे विशिष्टस्तर्कः, कुतः त्रिभुवनविजयी कुसुमेषुः शिरीषकुसुमादिमृदुलोपकरणैर्यत् कर्तुं न पारितवान् प्रत्युत सत्स्वपि तेषु पशुपतेः स्वयं पराजयं लेभे। पराजितेनापि तेन तौ हरस्य कण्ठपाशौ विहितौ। तदसाध्यसाधनात् ततोऽपि मृदुतमावित्यभिप्रायः।

भाषार्थ—पार्वतीजी की भुजाएँ अतिकोमल शिरीषपुष्पसे भी बढ़कर सुकुमार थीं, ऐसा मेरा दृढ़ तर्क है। क्योंकि कामदेव शिरीषपुष्प आदि से जो काम करने में समर्थ नहीं हो सका, वह काम पराजित होकर भी उसने पार्वतीजी की भुजाओं से कर दिखाया या यानी उनसे शिवजी को बाँधकर उनपर विजय पायी॥ ४१॥

कण्ठस्य तस्याः स्तनबन्धुरस्य मुक्ताकलापस्य च निस्तलस्य।
अन्योन्यशोभाजननाद् बभूव साधारणो भूषणभूष्यभावः॥ ४२॥

अन्वयः—स्तनबन्धुरस्य तस्याः निस्तलस्य कण्ठस्य मुक्ताकलापस्य च अन्योन्यशोभाजननात् भूषणभूष्यभावः साधारणः बभूव।

व्याख्या—स्तनबन्धुरस्य=पयोधरोन्नतस्य, तस्याः=शैलराजदुहितुः, कण्ठस्य=गलस्य, निस्तलस्य=वृत्तस्य, वर्तुलस्येत्यर्थः। मुक्तकलापस्य च=मौक्तिकालङ्कारस्य अपि, अन्योन्यशोभाजननात्=परस्पराभाकरणात्, भूषणभूष्यभावः =परिष्कारपरिष्कार्यभावः, साधारणः=समानः,बभूव=संजातः ।

व्युत्पत्त्यादयः—स्तनबन्धुरस्य—बध्नातीति बन्धुरः । स्तनाभ्यां बन्धुरः स्तनबन्धुरस्तस्य स्तनबन्धुरस्य 'स्त्रीस्तनाब्धी पयोधरौ।' 'बन्धुरं तून्नतानतम्' इति चामरः। निस्तलस्य–निर्गतं तलं यस्मात्स निस्तलस्तस्य'वृर्तुलं निस्तलं वृत्तम्' इत्यमरः । मुक्ताकलापस्य—मुक्तानां कलापः मुक्ताकलापस्तस्य मुक्ताकलापस्य । कलमाप्नोतीति कलापः 'कलापो भूषणे बर्हे काञ्च्यां भूषणतूणयोः'' इत्यजयः । 'अथ मौक्तिकं मुक्ता' इत्यमरः । अन्योन्यशोभाजननात्—अन्योन्यशोभाया जननम् अन्योन्यशोभाजननं तस्मात् । शोभाकान्तिर्द्युतिच्छविः । इत्यमरः । भूषणभूष्यभावः—भूष्यतेऽनेन तद् भूषणं भूषयितुं योग्यः भूष्यः भूषणश्च भूष्यश्च भूषणभूष्यौ तयोर्भावः भूषणभूष्यभावः । 'अलङ्कारस्त्वाभरणं परिष्कारो विभूषणम् ।' इत्यमरः । साधारणः—'वाच्यलिङ्गाः समस्तुल्यः सदृक्षः सदृक् । साधारणः समानश्च' इत्यमरः साधायः संसिद्धे रणो वाचक इति साधारणः । अत्र कण्ठमुक्ताकलापयोः शोभाजननद्वारेणान्योन्यभूषाजनकत्वादन्योन्यालङ्कारः । तदुक्तम्— 'क्रियया तु परस्परम् । वस्तुनोर्जननेऽन्योन्यम्' इति ।

भावार्थः—पयोधरबन्धुरस्तस्याः कण्ठो वर्तुले मुक्तालङ्कारेण विभूष्यते स्म, वर्तुलः मुक्ताकलापः स्तनबन्धुरेण कण्ठेन विभूष्यते स्म अतोऽन्योन्यद्युतिजननात्तयोर्द्वयोरलङ्कारालङ्कार्यभावः तुल्योऽभवत् ।

भाषार्थ—स्तनों से उन्नत उसके कण्ठ के गोल मौक्तिकों की माला सुशोभित करती थी और गोल मौक्तिकमाला को उसका स्तनोन्नत कण्ठ अलङ्कृत करता था, इस प्रकार दोनों का परस्पर अलङ्कार-अलंकार्य भाव समान हुआ ॥ ४२ ॥

चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुङ्क्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम् ।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—लोला लक्ष्मीः चन्द्रं गता (सती) पद्मगुणान् न भुङ्क्ते, पद्माश्रिता (सती) चान्द्रमसीम् अभिख्यां न भुङ्क्ते, उमामुखं प्रतिपद्य तु द्विसंश्रयां प्रीतिम् अवाप ।

व्याख्या—लोला=चञ्चला, भ्रमणशीलेत्यर्थः । लक्ष्मीः=कान्त्यभिमानिनी देवी, चन्द्रम्=इन्दुम्, गता=प्राप्ता (सती), पद्मगुणान्=अरविन्दगुणान्

(सौरभ्यादीन्), न भुङ्क्ते=नानुभवति, पद्मम्=अरविन्दम्, गता=प्राप्ता (सती), चान्द्रमसीम्=वैधवीम्, अभिख्याम्=शोभाम्, न भुङ्क्ते=नाप्नोति, उमामुखम्=गिरिजाननम्, प्रतिपद्य तु=प्राप्य तु, द्विसंश्रयाम्=उभयाश्रयाम्, प्रीतिम्=आनन्दम्, अवाप=प्राप।

व्युत्पत्त्यादयः—लोला—लोडतीति लोला डलयोरेकत्वस्मरणात्। 'चलनं, कम्पनं कम्प्रं चलं लोलं चलाचलम्। चञ्चलं तरलं चैव पारिप्लवपरिप्लवे ॥' इत्यमरः। लक्ष्मीः—लक्ष्यते दृश्यते इति लक्ष्मीः। 'लक्ष्मीः सम्पत्तिशोभयोः। ऋद्ध्यौषधौ च पद्मायां वृद्धिनामौषधेऽपि च ॥' इति कोषः। चन्द्रम्—चन्दतीति चन्द्रस्तम् "हिमांशुश्चन्द्र इन्दुः कुमुदबान्धवः" इत्यमरः। गता अगमदिति गता। पद्मगुणान्—पद्मते इति पद्मम् 'वा पुंसि पद्मं नलिनमरविन्दमहोत्पलम्।' इत्यमरः। तस्य गुणा सौगन्ध्यादयस्तान्। पद्माश्रिता-पद्मम्—आश्रिता पद्माश्रिता। आशिश्रयदिति आश्रिताः। चान्द्रमसीम्—चन्द्रमस इयं चान्द्रमसी ताम् चान्द्रमसीम्। अभिख्याम्–अभिख्यानम् अभिख्या ताम्। 'अभिख्या त्वभिधाने स्याच्छोभायां च यशस्यपि।' इति मेदिनी। दिवसे चन्द्रस्याप्रभत्वाद् रात्रौ पद्मस्य मुकुलितत्वादिति भावः। उमामुखम्—उमाया मुखम् उमामुखं तत्। 'उमा-कात्यायनी गौरी काली हैमवती शिवा।' इत्यमरः। 'मुखमुपाये प्रारम्भे श्रेष्ठे निःसरणास्ययोः।' इति हैमः। द्विसंश्रयाम्—द्वौ पद्मकुमुदबान्धवौ संश्रयावाश्रयौ यस्याः सा ताम्। प्रीतिम्—प्रीणनं प्रीतिस्ताम्। 'मुत्प्रीतिः प्रमदो हर्षः प्रमोदा मोदसम्मदाः।' इत्यमरः। इहोपमानचन्द्रपद्मापेक्षयोपमेयस्योमामुखस्याधिकगुण-वत्त्वोक्त्या व्यतिरेकालङ्कारः। लक्षणं पूर्वमुक्तम्।

भावार्थः—चपला लक्ष्मीः चन्द्रं प्राप्यारविन्दगुणान् मञ्जुलत्वसौरभ्यादीन् नानुभवति अरविन्दं प्राप्य चन्द्रत्विषं न भुङ्क्ते उमामुखन्तु प्राप्योभयगतं सौरभ्य-शोभाद्यनुभवजन्यां मुदमापेति चन्द्रपद्मातिशायि तन्मुखमिति भावः।

भाषार्थ—चञ्चल लक्ष्मी रात में चन्द्रमा को पाकर कमल के गुणोंका अनुभव नहीं कर सकती, क्योंकि उस समय कमल मुँदे रहते हैं। दिन में पद्मों को पाकर चन्द्रमा की कान्ति से वञ्चित रहती है, क्योंकि उस समय चन्द्रमा निष्प्रभ रहता है। किन्तु उमामुख को पाकर तो उसे दोनों का आनन्द एक काल में प्राप्त हो गया ॥ ४३ ॥

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद् विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥ ४४ ॥

अन्वयः—पुष्पं प्रवालोपहितं स्यात् यदि वा मुक्ताफलं स्फुटविद्रुमस्थं स्यात् ततः विशदस्य ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः तस्याः स्मितस्य अनुकुर्यात् ।

व्याख्या—पुष्पम् = शुभ्रपुष्पम्, पुण्डरीकादिकमित्यर्थः । प्रवालोपहितम् = नवपल्लवनिहितम्, स्याद् यदि = भवेत् चेत्, वा = अथवा, यदि मुक्ताफलम् = मौक्तिकफलम्, स्फुटविद्रुमस्थम् = निर्मलप्रवालस्थितम् स्यात् ततः = तर्हि, विशदस्य = शुभ्रस्य, ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः = अरुणरदच्छव्याप्तत्विषः, तस्याः = पार्वत्याः, स्मितस्य = मन्दहसितस्य, अनुकुर्यात् = अनुकरणं विदध्यात् ।

व्युत्पत्त्यादयः—प्रवालोपहितम्—प्रकर्षेण बलतीति प्रवालः । 'प्रवलोऽस्त्री किसलये वीणादण्डे च विद्रुमे ।'' इति मेदिनी । प्रवाले उपहितं प्रवालोपहितम् उपाधायीति उपहितम् । 'दधातेर्हि' इति हिः । मुक्ताफलम्—अमोचिति मुक्ता मुक्ता एव फलं मुक्ताफलम्, स्फुटविद्रुमस्थम्—स्फुटतीति स्फुटः'स्फुटो व्यक्त-फुल्लयोः। सिते व्याप्ते' इति हैमः । विशिष्टे द्रौ (वृक्षे) भवः विद्रुमः 'द्युद्रुभ्यां मः' इति मः । 'विद्रुमो रत्नवृक्षेऽपि प्रवालेऽपि पुमानयम् ।' इति मेदिनी । स्फुट-श्चासौ विद्रुमः स्फुटविद्रुमस्तस्मिन् तिष्ठतीति स्फुटविद्रुमस्थम् । विशदस्य—'विशदः पाण्डरे व्यक्ते' इति हैमः । तस्य विशदस्य । ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः—ताम्रौ च तावोष्ठौ ताम्रौष्ठौ तयोः पर्यस्ता रुक् यस्य तत्तस्य । 'ओष्ठाधरौ तु रदन-च्छदौ दशनवाससी ।' इत्यमरः । स्मितस्य—स्मयनं स्मितम् । 'स्यादाच्छुरितकं हासः' इत्युपक्रम्य 'स मनाक् स्मितम्' इति हासभेदेषु इत्यमरः । 'ईषद्विकसितैर्दन्तै कटाक्षैः सौष्ठवाचितैः । अलक्षितद्विजद्वारमुत्तमानां स्मितं भवेत् ।' तस्य स्मितस्य । अनुकुर्यात् । स्मितमनुकुर्यादित्यर्थः । भाषाणामश्नीयादितिवत् सम्बन्धमात्रविवक्षयां षष्ठी । अत्र पुष्पप्रवालयोर्मुक्ताविद्रुमयोश्चासम्बन्धोक्त्याति-शयोक्तिः । पुष्पमुक्ताफलयोरुपमानयोः प्रकृतोत्कर्षार्थमुपमेयताकल्पनात् प्रती-पालङ्कारः । आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता तस्यैव यदि वा कल्प्येत्यादित-ल्लक्षणात् । स च पूर्वोक्तातिशयोक्त्यनुप्राणित इति ।

भावार्थः—यदि पुण्डरीकादि शुभ्रपुष्पं नवपल्लवे निहितं स्यात् अथवा मौक्तिकफलं यदि निर्मलविद्रुमोपरिस्थितं स्यात् तदारुणरदनच्छदप्रसृतत्विषस्तस्या विशदस्मितस्य तुलामुपेयात् ।

भाषार्थ—यदि सफेद फूल नवपल्लव पर निहित हो अथवा यदि मोती निर्मल मूँगे पर रखा हो तो वह उसकी विशद मुसकान की, जिसकी गुलाबी ओठों पर प्रभा छिटकी हुई है, शायद बराबरी कर सके ॥ ४४ ॥

स्वरेण तस्याममृतस्रुतेव प्रजल्पितायामभिजातवाचि ।
अप्यन्यपुष्टा प्रतिकूलशब्दा श्रोतुर्वितन्त्रीरिव ताड्यमाना ॥ ४५ ॥

अन्वयः—अभिजातवाचि तस्याम् अमृतस्रुता इव स्वरेण प्रजल्पितायां (सत्याम्) अन्यपुष्टा अपि ताड्यमाना वितन्त्रीः इव श्रोतुः प्रतिकूलाशब्दा (भवति) ।

व्याख्या—अभिजातवाचि=मञ्जुभाषिण्याम्, तस्याम्=पार्वत्याम्, अमृतस्रुता इव पीयूषस्राविणा इव, स्वरेण=नादेन, प्रजल्पितायाम् (सत्याम्)=आलपन्त्याम् (आलपितुमुपक्रान्तायाम् सत्याम्) अन्यपुष्टा अपि=कोकिला अपि, ताड्यमाना=आहन्यमाना, अनभिज्ञेन वाद्यमानेत्यर्थः । वितन्त्रीः इव=विषमबद्धवीणा इव, श्रोतुः=आकर्णयितुः, प्रतिकूलशब्दा=कर्णकटुनादा, भवतीति शेषः ।

व्युपत्त्यादयः—अभिजातवाचि—अभ्यजनीति अभिजाता । 'अभिजातः कुलीने स्यान्न्याय्यपण्डितयोस्त्रिषु ।' इति मेदिनी[1] । अभिजाता वाक् यस्याः सा तस्याम् । वाचामाभिजात्यं कुलीनत्वं माधुर्यमेव । 'ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती ।' इत्यमरः । अमृतस्रुता अमृतं स्रवतीति अमृतस्रुत् तेन अमृतस्रुता सुधावर्षिणा । 'पीयूषममृतं सुधा ।' इत्यमरः । स्वरेण—स्वरतीति स्वरः स्वर्यतेऽर्थोऽनेनेति वा स्वेन राजते इति वा स्वरः । 'स्वरो नासासमीरे स्यान्मध्यमाविन्त्रिकस्वरे । उदात्तावकारादौ षड्जादौ च ध्वनौ पुमान् ॥' इति विश्वः । तेन स्वरेण । प्रजल्पितायाम्—प्राजल्पीत् इति प्रजल्पिता तस्याम् । अन्यपुष्टा—अपोषि इति पुष्टा अन्यैः काकादिभिः पुष्टा अन्यपुष्टा 'वनप्रियः परभृतः कोकिलः पिक इत्यपि ।' इत्यमरः । ताड्यमाना—ताड्यते इति ताड्यमाना । वितन्त्रीः—तन्त्रयते इति तन्त्रीः विषमबद्धा तन्त्रीः वितन्त्रीः । श्रोतुः—शृणोतीति श्रोता । तस्य श्रोतुराकर्णयितुः । प्रतिकूलशब्दा=प्रतिकूलः शब्दो यस्याः सा प्रतिकूलशब्दा । अत्रोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—मञ्जुभाषिणी पार्वती सुधावर्षिणा स्वरेण यदा जल्पयितुं प्रारभत तदा कोकिलदयितापि अनभिज्ञजनेन अहन्यमाना वीणागुणसंहतिरिव कर्णकटुनादाऽभवत् ।

भाषार्थ—मञ्जुभाषिणी पार्वती जब अपने अमृतवर्षी मीठे बोल से बोलना आरम्भ करती थी, उस समय मधुर बोलने में विख्यात कोयल की कूक भी गँवार आदमी से बजाये जा रहे भली-भाँति न सँवारे गये वीणा के तारों की ध्वनि के तुल्य कर्णकठोर लगती थी ॥ ४५ ॥

---

१. अभिजातं कुलीने स्यान्नय्ये बुधसुरूपयोः ।'

प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या ।
तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषम् अधीरविप्रेक्षितम् आयताक्ष्या तया मृगाङ्गनाभ्यः गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः ततो गृहीतं नु ।

व्याख्या— प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषम्=अनिलाफुलस्थललसन्नीलकमलनिभम्, अधीरविप्रेक्षितम्=चकितविलोकितम्, आयताक्ष्या=विशाललोचनया, तया=पार्वत्या, मृगाङ्गनाभिः=कुरङ्गकामिनीभिः, गृहीतम्=अनुशीलितम् नु=किम्, मृगाङ्गनाभिः=कुरङ्गकामिनीभिः, ततः=पार्वत्याः, गृहीतं नु=अनुशीलितं किम् ?

व्युत्पत्त्यादयः—प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषम्—प्रकृष्टः वातो यस्मिंस्तत् प्रवातम्, नीलतीति नीलम् । नीलम् । नीलं च तदुत्पलम्, 'नीलो वर्णे मणौ शैले निधिवानरभेदयोः ।' इति । 'उत्पलं कुष्ठभूरुहे । इन्दीवरे मांसशून्ये' इति च हैमः । प्रवाते यन्नीलोत्पलं प्रवातनीलोत्पलम् निर्गतः विशेषो यस्मात् तत् निर्विशेषम् प्रवातनीलोत्पलात् निर्विशेपमिति प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषम् । अधीरविप्रेक्षितम् विप्रेक्षणं विप्रेक्षितम् । दधातीति धीरं न धीरमधीरम्, 'धीरो धैर्यान्विते स्वैरे बुधे क्लीबं तु कुङ्कुमे ।' इति मेदिनी । अधीरं च तद् विप्रेक्षितमधीरविप्रेक्षितम् । आयताक्ष्या अयमिषातामिति आयते, आयतेते इति वा आयते । 'दीर्घमायतम्' इत्यमरः । अक्षत् इत्यक्षिणी । 'लोचनं नयनं नेत्रमीक्षणं चक्षुरक्षिणी ।' इत्यमरः । आयते अक्षिणी यस्याः सा आयताक्षी तया आयताक्ष्या । मृगाङ्गनाभ्याः—शोभनान्यङ्गानि यासान्ता अङ्गनाः 'अङ्गात्कल्याणे' इति नः । 'अङ्गना भीरुः कामिनी वामलोचना । प्रमदा मानिनी कान्ता ललना च नितम्बिनी ॥' इत्यमरः । मृगाणामङ्गना मृगाङ्गनास्ताभ्यः । गृहीतम्—अग्राहीति गृहीतम्, कर्मणि क्तः । ततः—तस्या इति ततः । मृगाङ्गनाभिः—मृगाणामङ्गनास्ताभिः । 'नु स्यात्प्रश्ने विकल्पार्थेऽप्यतीतानुनयार्थयोः ।' इति विश्वः । अत्र परस्परग्रहणस्योत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षेति केचित् । तदुपजीविसन्देहालङ्कार इत्यन्ये । उभयोः सङ्कर इत्यपरे ।

भावार्थः—प्रचुरवातवति स्थले स्थितान्नीलेन्दीवरान्निर्विशेषं चकितप्रेक्षणं कमलाक्ष्या तया हरिणीभ्यो गृहीतं किं हरिणीभिर्वा ततो गृहीतं किम् ?

भाषार्थ —प्रचुर वायुयुक्त स्थल में नीलकमल के तुल्य चकित प्रेक्षण कमलायतनेत्रा पार्वती ने मृगियों से सीखा या मृगियों ने पार्वती से सीखा ? ॥ ४६ ॥

तस्याः शलाकाञ्जननिर्मितेव कान्तिर्भ्रुवोरायतलेखयोर्वा ।
तां वीक्ष्य लीलाचतुरामनङ्गः स्वचापसौन्दर्यमदं मुमोच ॥ ४७ ॥

अन्वयः—आयतलेखयोः तस्या भ्रुवोः शलाकाञ्जननिर्मितेव (स्थिता) या कान्तिः लीलाचतुरां तां वीक्ष्य अनङ्गः स्वचापसौन्दर्यमदं मुमोच ।

व्याख्या—आयतलेखयोः=दीर्घरेखयोः, तस्याः=पार्वत्याः, भ्रुवोः=नयनोपरिस्थितयो रोमराज्योः, शलाकाञ्जननिर्मिता इव=तूलिकया कज्जलेन रचिता इव स्थिता, या कान्तिः=या द्युतिः, लीलाचतुराम्=विलासरुचिराम्, ताम्=द्युतिम्, वीक्ष्य=अवलोक्य, अनङ्गः=कंदर्पः, काम इत्यर्थः । स्वचापसौन्दर्यमदम्=स्वशरासनरुचिरतागर्वम्, मुमोच=जहौ ।

व्युत्पत्त्यादयः—आयतलेखयोः—आयता लेखा ययोस्ते आयतलेखे तयोः आयतलेखयोः, भ्रुवोः—भ्रमत इति भ्रुवौ । 'ऊर्ध्वे दृग्भ्यां भ्रुवौ स्त्रियौ ।' इत्यमरः । तयोः । शलाकाञ्जननिर्मिता–शलं शललं श्वाविल्लोम अकति तत्सादृश्यं प्राप्नोतीति शलाका तस्याः शिखरे लग्नं यद् अञ्जनं तेन निर्मिता निरमायीति निर्मिता । कान्तिः—काम्यते या सा कान्तिः । 'शोभा कान्तिर्द्युतिश्छविः ।' इत्यमरः । लीलाचतुराम्—लयनं लीः । लियं लान्तीति लीलाः लीलाभिश्चतुरा लीलाचतुरा ताम् । चत्यते वाञ्छयते इति चतुरा 'प्रियस्यानुकृतिर्लीला श्लिष्टा वाग्वेषचेष्टितैः' 'हेला लीलेत्यमी हावाः क्रियाः शृङ्गारभावजाः ।' इत्यमरश्च । अनङ्गः—न विद्यतेऽङ्गं यस्य सः अनङ्गः 'कन्दर्पो दर्पकोऽनङ्गः' इत्यमरः । स्वचापसौन्दर्यपदम्—स्वनति स्वन्यते वा स्वः । 'स्वः स्यात्पुंस्यात्मनि ज्ञातौ त्रिष्वात्मीयेऽस्त्रियां धने ।' इति मेदिनी । चपस्य वंशभेदस्य विकारः चापः । सु उनत्ति चित्तं द्रवीकरोतीति सुन्दरः । 'सुन्दरम् रुचिरं चारु सुषमम्' इत्यमरः । सुन्दरस्य भावः सौन्दर्यं चारुत्वम् । मदनं मदः । 'मन्दो रेतसि कस्तूर्यां गर्वे हर्षेऽथदानयोः' इति विश्वः । स्वस्य चापः स्वचापस्तस्य सौन्दर्यं तेन मदस्तम् । मुमोच— 'मुच्लृ-मोचने' धातोः कर्तरि लिट् ।

भावार्थः—तस्या दीर्घलेखयोर्भ्रुवोः तूलिकामसीरचितेन या परमा शोभा जाता विलाससुषमां तामवलोक्य कामः स्वशरासनसौन्दर्यगर्वमत्यजत् ।

भाषार्थ—पार्वती की पतली लम्बी भौंहों की तूलिका से खींची हुई-सी परम शोभा को देखकर काम ने अपने धनुष की सुन्दरता का गर्व त्याग दिया ॥४७॥

लज्जां तिरश्चां यदि चेतसि स्यादसंशयं पर्वतराजपुत्र्याः ।
तं केशपाशं प्रसमीक्ष्य कुर्युर्बालप्रियत्वं शिथिलं चमर्यः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—तिरश्चां चेतसि लज्जा स्याद् यदि असंशयं पर्वतराजपुत्र्याः तं केशपाशं प्रसमीक्ष्य चमर्यः बालप्रियत्वं शिथिलं कुर्युः ।

व्याख्या—तिरश्चाम्=पशुपक्षीप्रभृतीनां तिर्यग्जातीनाम्, चेतसि=हृदये,

लज्जा=ह्रीः, त्रतेत्यर्थः। स्याद् यदि=भवेत् चेत्, असंशयम्=निःसन्देहम्, पर्वतराजपुत्र्याः=शैलाधिराजदुहितुः पार्वत्याः। तम्=प्रसिद्धम् केशपाशम्=चिकुरकलापम्, प्रसमीक्ष्य=अवलोक्य, चमर्यः=मृगीविशेषाः, बालप्रियत्वम्=प्रियकुन्तलम्, शिथिलम्=श्लथम्, कुर्युः=विदध्युः।

व्युत्पत्त्यादयः—तिरश्चाम्—तिरोऽञ्चन्तीति तिर्यञ्चस्तेषां तिरश्चाम्। 'स तिर्यङ्यस्तिरोऽञ्चति' इत्यमरः। चेतसि—चेततीति चेतः। 'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः।' इत्यमरः। तस्मिन् चेतसि। लज्जा—लज्जनं लज्जा। 'मन्दाक्षं ह्रीस्त्रपा व्रीडा लज्जा' इत्यमरः। यदि—'पक्षान्तरे चेद्यदि च' इत्यमरः। असंशयम् संशयस्याभावोऽसंशयम्। पर्वतराजपुत्र्याः पर्वन्तीति पर्वताः। पर्वतानां राजा इति पर्वतराजः, पर्वतराजस्य पुत्री पर्वतराजपुत्री तस्याः पर्वतराजपुत्र्याः। केशपाशम्—केशानां पाशः केशपाशः 'चिकुरः कुन्तलो बालः कचकेशशिरोरुहाः।' इति। 'पाशःपक्षश्च हस्तश्च कलापार्थाः कचात्परे।' इति चामरः। चमर्यः—चमन्ति चम्यन्ते वा चमराः चमराणां स्त्रियश्चमर्यः। 'चमरं चामरे स्त्री तु मञ्जरीमृगभेदयोः।' इति मेदिनी। बालप्रियत्वम्—बालाः प्रिया यासान्ता बालप्रियास्तासां भावो बालप्रियत्वम्।

भावार्थः—पशुपक्षिणां चित्ते व्रीडा भवेच्चेत् तर्हि शैलाधिराजदुहितुः तमतिसुन्दरं केशपाशमवलोक्य चमर्यः बालप्रियत्वं निस्संशयं शिथिलं कुर्युर्निलज्जत्वान्न शिथिलयन्ति ता इति भावः।

भाषार्थ—पशु-पक्षियों के चित्त में यदि लज्जा होती तो शैलराजपुत्री के सुन्दर केशपाश को देखकर चँवर गायें निश्चय ही अपनी बालप्रियता को छोड़ देतीं, किन्तु निर्लज्ज होने के कारण नहीं छोड़ती हैं।। ४८॥

सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयेव ॥ ४९॥

अन्वयः—सा विश्वसृजा एकस्थसौन्दर्यदिदृक्षया इव प्रयत्नात् यथाप्रदेशं विनिवेशितेन सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन निर्मिता।

व्याख्या—सा=गिरिजा, विश्वसृजा=प्रजापतिना, ब्रह्मणेत्यर्थः। एकस्थसौन्दर्यदिदृक्षया इव=एकस्थानस्थसौन्दर्यावलोकनाकाङ्क्षया इव, प्रयत्नात्=प्रकृष्टयत्नात्। यथाप्रदेशम्=यथास्थानम्, विनिवेसितेन=स्थापितेन, सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन=निखिलोपमानपदार्थसार्थेन, निर्मिता=विरचिता।

व्युत्पत्त्यादयः—विश्वसृजा—विश्वं सृजतीति विश्वसृड् तेन विश्वसृजा 'स्रष्टा

प्रजापतिर्वेधा विधाता विश्वसृड् विधिः' इत्यमरः । एकस्थसौन्दर्यदिदृक्षया—एकस्मिन् तिष्ठतीति एकस्थम्, सुन्दरस्य भावः सौन्दर्यम् एकस्थं च तत्सौन्दर्यमेकस्थसौन्दर्यम् । द्रष्टुमिच्छा दिदृक्षा एकस्थसौन्दर्यस्य दिदृक्षा एकस्थसौन्दर्य दिदृक्षा तया एकस्थसौन्दर्यदिदृक्षा । प्रयत्नात्—प्रयतनं प्रयत्नस्तस्मात् प्रयत्नात् । यथाप्रदेशम्—प्रदेशमनतिक्रम्य यथाप्रदेशम् । विनिवेशितेन—विन्यवेशीति विनिवेशस्तेन विनिवेशितेन । सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन—उपमीयते याभिस्ता उपमाः उपमारूपाणि द्रव्याणि उपमाद्रव्याणि सर्वाणि च तानि उपमाद्रव्याणि सर्वोपमाद्रव्याणि तेषां समुच्चयनं समुच्चयः तेन 'द्रव्यं भव्ये गुणाश्रये' इति, 'समाहारः समुच्चयः' इति 'उपमोपमानं स्यात्' इति चामरः । दिदृक्षयेवेति फलोत्प्रेक्षा ।

भावार्थः—ब्रह्मणा सर्वगतस्य समग्रसौन्दर्यस्य एकस्मिन् स्थले द्रष्टुमिच्छयेव प्रयत्नपूर्वकं यथाप्रदेशं विनिवेशितेन सर्वेषामुपमाद्रव्याणां चन्द्रपद्मादीनां सन्दोहेन सा निर्मिता ।

भाषार्थ—ब्रह्माजी ने मानो चन्द्रमा, कमल आदि सकल सुन्दर वस्तुओं के सौन्दर्य को एक जगह देखने की इच्छा से बड़े प्रयत्न के साथ यथोचित स्थान पर निहित सकल उपमानभूत पदार्थों के—पद्म, चन्द्र आदि के—समूह से उसका निर्माण किया ।। ४९ ।।

तां नारदः कामचरः कदाचित् कन्यां किल प्रेक्ष्य पितुः समीपे ।
समादिदेशैकवधूं भवित्रीं प्रेम्णा शरीरार्धहरां हरस्य ।। ५० ।।

अन्वयः—कदाचित् कामचरः नारदः तां कन्या पितुः समीपे प्रेक्ष्य किल प्रेम्णा हरस्य शरीरार्धहराम् एकवधूं भवित्रीं समादिदेश ।

व्याख्या—कदाचित्=कस्मिंश्चित् समये, जातुचित् इत्यर्थः । कामचरः=स्वेच्छाविचरणशीलः, नारदः=एतन्नामा देवर्षिः । तां कन्याम्=तां कुमारीम्, पितुः=तातस्य, समीपे=अन्तिके, प्रेक्ष्य=अवलोक्य, किल=निश्चयेन, प्रेम्णा=प्रियतया, हरस्य=त्र्यम्बकस्य, शरीरार्धहराम्=वामाङ्गहराम्, एकवधूम्=अद्वितीयसीमन्तिनीम्, भवित्रीम्=भाविनीम्, समादिदेश=अवोचत् ।

व्युत्पत्त्यादयः—कामचरः-कामन कामः इच्छा, कामेन चरतीति कामचरः । 'अथ दोहदम् । इच्छा काङ्क्षा स्पृहेहा तृड् वाञ्छा लिप्सा मनोरथः । कामोऽभिलाषस्तर्षश्च ।' इत्यमरः । नारदः—नरस्य धर्म्यं नारम् 'नराच्चेति वक्तव्यम्' इत्यण् । नारं ददातीति नारदः । यद्वा 'नारं [1]पानीयमित्युक्तं तत्पितृभ्यः

१. 'कबन्धमुदकमापो नीरं वार्वारि नारं । क्लीबमपि' इति संसारावर्तः ।

सदा भवान् । ददाति तेन ते नाम नारदेति भविष्यति ॥' इत्यागमः । नारदाद्याः सुरर्षयः, इत्यमरः । पितुः—पातीति पिता तस्य पितुः 'तातस्तु जनकः पिता ।' इत्यमरः । समीपे—संगता आसो यस्मिंस्तत् समीपं तस्मिन् समीपे 'समीपे निकटासन्नसन्निकृष्टसमीडवत् । सदेशाभ्य शसविधसमर्यादवशेषवत् । उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णाभ्यग्रा अप्यमितोऽव्ययम्' इत्यमरः । किल—किलतीति किल 'किलशब्दस्तु वार्तायां सम्भाव्यानुनयार्थयोः' इति विश्वः । प्रेम्णा—प्रीणातीति प्रियः तस्य भावः प्रेमा । "प्रेमा ना प्रियता हार्दं प्रेम स्नेहः' इत्यमरः । हरस्य —हरति दुःखदैन्यादिकमिति हरस्तस्य । 'हरः स्मरहरो भर्गस्त्र्यम्बकः' इत्यमरः । शरीरार्धहराम्—अर्धं हरतीति अर्धहरा । शरीरस्य अर्धहरा शरीरर्धहरा ताम् यद्वा हरतीति हरः, शरीरस्य अर्धं शरीरार्धं तस्य हरा शरीरार्धंहरा ताम् । यद्वा हरस्य अर्धमर्धहरः शरीरेऽर्धहरो यस्याः सा ताम् । एकवधूम्—वहति उह्यते वा वधूः एका चासौ वधूः एकवधूस्ताम्, 'नारी सीमन्तिनी वधूः' इत्यमरः । भवित्रीम्—भवतीति भवित्री ताम् । भवनशीलाम् । समादिदेश—सम्—आङ् उपसर्गपूर्वाद् 'दिश' धातोः कर्तरि परोक्षे लिट् ।

भावार्थः—स्वेच्छया विचरन्नेकदा समायातो देवर्षिर्नारदः तां पार्वतीं पितुर्निकटे निरीक्ष्य इयं प्रेम्णा महादेवस्य वामाङ्गस्थायिनी एकभार्या भविष्यतीत्यादिदेश ।

भावार्थ—स्वेच्छा से सर्वत्र विचरण करने वाले नारदजी एक बार हिमालय पर गये । वहाँ पिता के निकट पार्वतीजी को देखकर उन्होंने बतलाया कि यह प्रेम से शिवजी की वामाङ्गस्थायिनी अद्वितीय भार्या होगी, इसे कभी सपत्नी के कारण दुःख न होगा ॥ ५० ॥

गुरुः प्रगल्भेऽपि वयस्यतोऽस्यास्तस्थौ निवृत्तान्यवराभिलाषः ।
ऋते कृशानोर्नहि मन्त्रपूतमर्हन्ति तेजांस्यपराणि हव्यम् ॥ ५१ ॥

अन्वयः—गुरुः अतः अस्याः प्रगल्भे वयसि अपि निवृत्तान्यवराभिलाषः (सन्) तस्थौ हि मन्त्रपूतं हव्यं कृशानोः ऋते अपराणि तेजांसि न अर्हन्ति ।

व्याख्या—गुरुः=पिता, अतः=देवर्षिनारदकथनाद् हेतोः, अस्याः =पार्वत्याः प्रगल्भे=प्रौढे, वयसि अपि=अवस्थायामपि, यौवने सत्यपीत्यर्थः । निवृत्तान्यवराभिलाषः सन् =अपगतहरेतरजामातृतर्षः सन्, तस्थौ=स्थितवान् अन्यं वरं नान्विष्टवानित्यर्थः । अत्राग्रहे को हेतुरित्यत आह—ऋत इति । हि=तथाहि, मन्त्रपूतम्=मन्त्रसंस्कृतम्, हव्यम्=आज्यादिकम्, कृशानोः=अग्नेः, ऋते=विना, अपराणि=अन्यानि, तेजांसि=सुवर्णादीनि, न अर्हन्ति=न भजन्ति ।

व्युत्पत्त्यादयः—गुरुः गृणातीति गुरुः । 'गुरुस्त्रिलिङ्ग्यां महति दुर्जरालघुनोरपि । पुमान् निषेकादिकरे पित्रादौ सुरमन्त्रिणि ।।' इति मेदिनी । प्रगल्भे—प्रगल्भते इति प्रगल्भं तस्मिन् । 'प्रगल्भः प्रतिभान्विते' इत्यमरः । वयते वेति वा वयः । 'वयः पक्षिणि बाल्यादौ यौवने च नपुंसकम्' इति मेदिनी । तस्मिन् वयसि निवृत्तान्यवराभिलाषः—न्यवर्तीति निवृत्तः निवृत्तः अन्यस्मिन् वरे अभिलाषो यस्य सः निवृत्तान्यवराभिलाषः—व्रियते इति वरः । 'वरो जामातरि वृत्तौ देवतादेरभीप्सिते ।' इति मेदिनी । मन्त्रपूतम्—मन्त्र्यन्ते इति मन्त्राः 'वेदभेदे गुह्यवादे मन्त्रः' इत्यमरः । तैः पूतम् 'पूतं पवित्रं मेध्यं च' इत्यमरः । हव्यम् हूयन्ते प्रीण्यन्ते देवा येन तत् । हूयते प्रक्षिप्यत इति वा हव्यम् दैवपित्र्ये दैवपित्र्ये अन्ने' इत्यमरः । कृशानोः—कृश्यतीति कृशानुः । तस्मात् कृशानोः 'कृशानुः पावकोऽनलः' इत्यमरः तेजांसि—तेजयन्तीति तेजांसि । 'तेजः प्रभावे दीप्तौ च बले शुक्रेऽपि ।' इत्यमरः । अत्र वैधर्म्येणार्थान्तरन्यासो नामालङ्कारः । तल्लक्षणं—साहित्यदर्पणे यथा—'सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि । कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते ।। साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा मतः ।' इति ।

भावार्थः—देवर्षिनारदवचनात् हिमालयः दुहितुर्वृत्तेऽपि यौवनारम्भेऽन्यं वरं नान्वेषयत् । यतो मन्त्रैः पवित्रमाज्यादि हव्यं वह्नेर्ऋते सुवर्णादीनि तेजांसि न भजन्ते । ईश्वरादन्यस्मिन् तद्योग्यत्वाभात्तस्योपेक्षेत्यर्थः ।

भाषार्थ—देवर्षि नारजो के विश्वस्त कथन से हिमालय ने पुत्री के युवती होने पर भी उसके लिए दूसरे वर की खोज नहीं की, क्योंकि वैदिक मन्त्रों से पवित्र किये हुए हविष् को अग्नि के सिवा अन्य सुवर्ण आदि तेज ग्रहण नहीं कर सकते । अर्थात् भगवान् शङ्करजी से अन्य में उसके ग्रहण की योग्यता न होने से उसने अन्य वर के अन्वेषण में उपेक्षा की ।। ५१ ।।

तमेवाहूय कथं न दत्तवान् इत्याशङ्कायामाह—

अयाचितारं न हि देवदेवमद्रिः सुतां ग्राहयितुं शशाक ।
अभ्यर्थनाभङ्गभयेन साधुर्माध्यस्थ्यमिष्टेऽप्यवलम्बतेऽर्थे ॥ ५२ ॥

अन्वयः—अद्रिः अयाचितारं देवदेवं सुतां ग्राहयितुं न शशाक हि साधुः अभ्यर्थनाभङ्गभयेन इष्टे अपि अर्थे माध्यस्थ्यम् अवलम्बते ।

व्याख्या—अद्रिः=पर्वतराजो हिमालयः, अयाचितारम्=अयाचमानम्, देवदेवम्=देवाधिदेवं श्रीमहादेवम्, सुताम्=तनयां पार्वतीम्, ग्रहयितुं=स्वयमाहूय स्वीकारयितुम्, न शशाक=नोत्सेहे । हि=यतः, सज्जनः, अभ्यर्थ-

नाभङ्गभयेन=याञ्चावैफल्यभिया, इष्टेऽपि=ईप्सितेऽपि, अर्थे=विषये, माध्यस्थ्यम्=औदासीन्यं, अवलम्बते=स्वीकुरुते ।

व्युत्पत्त्यादयः—अद्रिः–अत्तीति अद्रिः, 'अद्रिस्तु पर्वते सूर्ये शाखिनि च' इति हैमः । अयाचितारम्–याचते इति याचिता न याचिता अयाचिता तम् अयाचितारम्, देवदेवम् दीव्यन्तीति देवाः 'अमरा निर्जरा देवाः' इत्यमरः । देवानां देवः देवदेवस्तं देवदेवम् । उद्दिश्येति शेषः । असाविति सुता ताम् । "आत्मजस्तनयः सूनुः सुतः पुत्रः स्त्रियां त्वमी । आहुर्दुहितरं सर्वे" इत्यमरः । साधुः–साध्नोति परकार्यमिति साधुः 'साधुर्वार्धुषिके चारौ सज्जने चाभिधेयवत्' इति विश्वः । अभ्यर्थनाभङ्गभयेन—अभ्यर्थनाया भङ्गः अभ्यर्थनाभङ्गस्तस्माद् भयं तेन । भञ्जनं भङ्गः 'भङ्गस्तरङ्गे भेदे च रुग्विशेषे पराजये । कौटिल्ये भयविच्छित्त्योः ।' इति हैमः । इष्टे–एषणमितीष्टम् 'इष्टं यागे च दाने च वाञ्छितेऽपि प्रयुज्यते ।' इत्यजयः । तस्मिन् । अर्थे–अर्थतेऽर्थ्यं वा अर्थः तस्मिन् अर्थे । 'अर्थो विषयार्थनयोर्धनकारणवस्तुषु ।' इति मेदिनी । माध्यस्थ्यम्–मध्ये तिष्ठतीति मध्यस्थः तस्य भावो माध्यस्थ्यमिति "अयाचितानि देयानि सर्वद्रव्याणि भारत । अन्नं विद्या तथा कन्या अनर्थिभ्यो न दीयते ।।" इति स्मृतेरिति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनादर्थान्तरन्यासालंकारः ।

भावार्थः–शैलाधिराजोऽप्रार्थिनं देवाधिदेवं महादेवं कन्या स्वीकारयितुं नोत्सेहे, हि मनस्वी पुरुषोऽभीप्सितेऽपि विषये याञ्चावैफल्यभिया औदासीन्यमवलम्बते ।

भाषार्थ—पर्वतराज हिमालय को कन्या की प्रार्थना न कर रहे देवाधिदेव महादेवजी को कन्या स्वीकार करवा लेने का साहस नहीं हुआ, क्योंकि मनस्वी पुरुष प्रार्थना के विफल होने के भय से अभीष्ट विषय में भी उदासीनता का अवलम्बन करते हैं ।। ५२ ।।

न च तूष्णीमेव स्थितिः किन्तूपायान्तरं चिन्तितवानिति प्रवक्तुं प्रस्तूयते नायकवृत्तम्—

यदैव पूर्वे जनने शरीरं सा दक्षरोषात्सुदती ससर्ज ।
यदाप्रभृत्येव विमुक्तसङ्गः पतिः पशूनामपरिग्रहोऽभूत् ।। ५३ ।।

अन्वयः—सुदती सा पूर्वे जनने यदा दक्षरोषात् शरीरं ससर्ज तदाप्रभृति एव पशूनां पतिः विमुक्तसङ्गः (सन्) अपरिग्रहः अभूत् ।

व्याख्या—सुदती=चारुरदनयुता, सा=उमा, पूर्वे=पूर्वस्मिन्, जनने=जनुषि, ('पूर्वं ज्वलने' इति पाठे तु पूर्वम्=दाक्षायणीत्वे, ज्वलने=योगाग्नौ) यदा=

यस्मिन् समये, दक्षरोषात्–दक्षाख्यप्रजापतौ क्रोधात्, शरीरम्=देहम्, ससर्ज= उत्सृष्टवती, तदाप्रभृत्येव=तदाद्येव, पशूनाम्=प्राणिनाम्, पतिः=स्वामी, शिव इत्यर्थः। विमुक्तसङ्गः (सन्)=परित्यक्तविषयासक्तिः सन्, अपरिग्रहः= अकलत्रः, अभूत्=अभवत्।

व्युत्पत्त्यादयः—सुदती–शोभना दन्ता यस्याः सा सुदती। 'रदना दशना दन्ता रदाः' इत्यमरः। पूर्वे–पूर्वतीति पूर्वम् प्रथमम् तस्मिन्। 'पुंस्यादिपूर्वपौर- स्त्यप्रथमाद्याः' इत्यमरः। जनने–जननम्। 'जननी तु दयामात्रोर्जननं वंश- जन्मनोः।' इति मेदिनी। तस्मिन्। दक्षरोषात्–दक्षे रोषः दक्षरोषस्तस्मात् दक्ष- रोषात् 'कोपक्रोधामर्षरोषप्रतिघा रुट् क्रुधौ स्त्रियौ।' इत्यमरः। पशूनाम्–पशवो जीवास्तेषाम् 'तिर्यग् जातौ पशुः प्रोक्तः सर्वप्राणिषु पुंस्ययम्' इति कोषः। पतिः– पातीति पतिः विमुक्तसङ्गः (सन्)–व्यमोचीति विमुक्तः सज्जनं सङ्गः विमुक्तः सङ्गो येन सः विमुक्तसङ्गः। अपरिग्रहः–परिगृह्यते परिग्रहः कलत्रम्। 'परि- ग्रहः कलत्रे च मूलस्वीकारयोरपि। शपथे परिवारे च राहुवक्त्रस्थभास्करे॥' इत्यजयः। न विद्यते परिग्रहो यस्य सोऽपरिग्रहः।

भावार्थः–सुदती सा पार्वती पूर्वस्मिन् जन्मनि यदा पितरि दक्षे कोपात् स्वदेहं जहौ तत्प्रभृत्येव भगवान् श्रीशङ्करः परित्यक्तविषयासक्तिः सन्नभार्योऽभूत्।

भाषार्थ—भगवती पार्वती ने पूर्व जन्म में कभी अपने पिता दक्ष के प्रति कोप से अपना शरीरत्याग किया तभी से भगवान् शङ्कर विषयासक्ति का परित्याग कर अपत्नीक जीवन विता रहे थे॥ ५३॥

स कृत्तिवासास्तपसे यतात्मा गङ्गाप्रवाहोक्षितदेवदारु।
प्रस्थं हिमाद्रेर्मृगनाभिगन्धि किञ्चित्क्वणत्किन्नरमध्युवास॥ ५४॥

अन्वयः—कृत्तिवासाः यतात्मा सः तपसे गङ्गाप्रवाहोक्षितदेवदारु मृगनाभि- गन्धि क्वणत्किन्नरं किञ्चित् हिमाद्रेः प्रस्थम् अध्युवास।

व्याख्या—कृत्तिवासः=गजाजिनाम्बरः, यतात्मा=नियतचित्तः, सः=ईशः, तपसे=तपोऽनुष्ठातुम्, गङ्गाप्रवाहोक्षितदेवदारु= पुरनिम्नगाधारासंसिक्तपरि- भद्रकम्, मृगनाभिगन्धि=कस्तूरीगन्धयुक्तम्, क्वणत्किन्नरम्=गायत्किम्पुरुषम्, किञ्चित्=किमपि, हिमाद्रेः=हिमालयस्य, प्रस्थम्=सानुम्, अध्युवास=अतिष्ठत्।

व्युत्पत्त्यादयः—कृत्तिवासः–कृत्यते या सा कृत्तिः। 'अजिनं चर्म कृत्तिः स्त्री।' इत्यमरः। वस्यते आच्छाद्यतेऽनेन इति वासा। कृत्तिर्वासो वस्त्रं यस्य सः कृत्तिवासाः 'कृत्तिवासाः पिनाकी' इति, 'वस्त्रमाच्छादनं वासश्चैलं वसनमंशुकम्।'

इति चामरः। यतात्मा—यम्यते स्मेति यतः। यत आत्मा चित्तं यस्य स यतात्मा। गङ्गाप्रवाहोक्षितदेवदारु—गच्छतीति गङ्गा। प्रवहणं प्रवाहः गङ्गायाः प्रवाहः गङ्गाप्रवाहस्तेन उक्षिता देवदारवो यस्मिन् तत्। मृगनाभिगन्धि-मृगस्य नाभिर्मृगनाभिः, 'मृगनाभिर्मृगमदः कस्तूरी च' इत्यमरः। मृगनाभेर्गन्धोऽस्मिन्नस्तीति मृगनाभिगन्धि। 'गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगर्वयोः।' इति हैमः। क्वणत्किन्नरम्—क्वणन्तीति क्वणन्तः कुत्सिता नरः किन्नराः क्वणन्तः किन्नरा यस्मिस्तत् क्वणत्किन्नरम्। हिमाद्रेः—हिमस्य अद्रिः हिमाद्रिस्तस्य हिमाद्रेः। प्रस्थम्—प्रतिष्ठन्तेऽस्मिन्निति प्रस्थम्। 'स्नुः प्रस्थः सानुरस्त्रियौ' इत्यमरः। अध्युवास—अधिपूर्वाद्वसधातोः कर्तरि परोक्षे लिट्। 'उपान्वध्याङ्वसः' इति वसतेराधारस्य प्रस्थस्य कर्मत्वम्। कस्मिंश्चित्प्रस्थे उवासेत्यर्थः।

भावार्थ—चर्मपरिधानो नियतचित्तः स तपस्तप्तुं जाह्नवीप्रवाहसिक्तपरिभद्रे कस्तूरिकागन्धयुते क्वणत्किन्नरे हिमालयस्य कस्मिंश्चित् सानौ उवास।

भाषार्थः—चर्माम्बरधारी समाहित चित्तवाले महादेवजी तपस्या करने के लिए भागीरथी के प्रवाह से संसिक्त देवदारु के वृक्षों से वेष्टित कस्तूरी आमोद से पूर्ण गुनगुना रहे किन्नरों के गान से गुलजार हिमालय के किसी शिखर पर निवास करते थे।। ५४।।

गणा नमेरुप्रसवावतंसा भूर्जत्वचः स्पर्शवतीर्दधानाः।
मनःशिलाविच्छुरिता निषेदुः शैलेयनद्धेषु शिलातलेषु॥ ५५॥

अन्वय—गणाः नमेरुप्रसवावतंसाः स्पर्शवतीः भूर्जत्वचः दधानाः मनःशिलाविच्छुरिताः (सन्तः) शैलेयनद्धेषु शिलातलेषु निषेदुः।

व्याख्या—गणाः=प्रमथगणाः, नमेरुप्रसवावतंसाः=सुरपुंनागपुष्पापीडाः, स्पर्शवतीः=शोभनास्पर्शाः, मृद्वीरित्यर्थः। भूर्जत्वचः=भूर्जवल्कलानि, दधानाः=धारयन्तः, मनःशिलाविच्छुरिताः सन्तः=मनोह्लाख्यधातुविशेषानुलिप्ताः सन्तः, शैलेनयद्धेषु=शिलाजतुविलिप्तेषु, शिलातलेषु=प्रस्तरतलेषु, निषेदुः=उपविविशुः।

व्युत्पत्त्यादयः—गणा—गण्यते इति गणाः। 'गणः स्यात्प्रथमे सङ्घे संख्यासैन्यप्रभेदयोः।' इति मेदिनी। नमेरुप्रसवावतंसाः—नमन्तीति नमेरव। प्रसूयत इति प्रसवः 'स्यादुत्पादे फले द्रव्ये प्रसवो गर्भमोचने।' इत्यमरः। अवतंस्यते अनेनेति अवतंसः तसिः सौत्रो भूषार्थः तस्मात् पचाद्यच् 'पुंस्युत्तंसावतसौ द्वौ कर्णपूरे च शेखरे।' इत्यमरः। नमेरूणां प्रसवा अवतंसा येषान्ते नमेरुप्रसवावतंसाः। स्पर्शवतीः—प्रशस्तः स्पर्शोऽस्ति यासां ताः स्पर्शवत्यस्ताः स्पर्शवतीः। भूर्जत्वचः—

भूर्जानां त्वचः भूर्जत्वचः ताः । 'त्वक् स्त्री वल्कं वल्कलमस्त्रियाम्' इति । 'भूर्ज्जं चर्मिमृदुत्वचौ' इति चामरः । दधानाः—दधते इति दधानाः । मयःशिलाविच्छुरिताः—मनशिलाभिः मनोगुप्ताभिः 'मनःशिला मनोगुप्ता मनोह्वा नागजिह्विका ।' इत्यमरः । विच्छुरिताः–अनुलिप्ताः (सन्तः), शैलेयनद्धेषु–शिलाया भवं शैलेयम् 'शिलाजतु च शैलेयम्' इति यादवः । शैलेयेन नद्धानि व्याप्तानि तेषु शिलातलेषु—शिलानां तलानि शिलातलानि तेषु 'पाषाणप्रस्तरग्रावोपलाश्मानः शिला दृषत् ।' इति । 'अधःस्वरूपयोरस्त्री तलम्' इति चामरः । प्रस्तरेष्वित्यर्थः । निषेदुः—'नि + षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' धातोः परोक्षे लिटि प्रथमपुरुषबहुवचनरूपम् ।

भावार्थः—नन्दिप्रभृतयो महेश्वरगणा महेश्वरे तपसे हिमाद्रिसानुमधिष्ठिते सति सुरपुन्नागकुसुमशेखरं दधानाः सुखस्पर्शाश्चर्मित्वचः परिदधाना मनःशिलानुलिप्ताङ्गाः सन्तः शिलजतुव्याप्तेषु प्रस्तरेषुसमुपविष्टाः ।

भाषार्थ—नन्दी आदि महादेवजी के गण जब महादेवजी तपस्या करने के लिए हिमालय के शिखर पर आसीन हुए, तब देवपुंनाग के फूलों के शेखर धारण कर, कोमल भूर्जवल्कल पहनकर तथा शरीर पर मैनसिल का लेप कर शिलाजीत सने हुए पत्थरों पर बैठे ॥ ५५ ॥

तुषारसंघातशिलाः खुराग्रैः समुल्लिखन्दर्पकलः ककुद्मान् ।
दृष्टः कथंचिद् गवयैर्विविग्नैरसोढसिंहध्वनिरुन्ननाद ॥ ५६ ॥

अन्वयः—तुषारसंघातशिलाः खुराग्रैः समुल्लिखन् दर्पकलः विविग्नैः गवयैः कथंचिद् दृष्टः ककुद्मान् असोढसिंहध्वनिः (सन्) उन्नाद ।

व्याख्या—तुषारसंघातशिला=हिमघनदृषदः, खुराग्रैः=शफमुखैः, समुल्लिखन्=विदारयन्, खनन्नित्यर्थः । दर्पकलः–गर्वमधुरध्वनिः, विविग्नैः भीतभीतैः, गवयैः=गोसदृशमृगविशेषैः, कथंचित्=कष्टेन, दृष्टः=अवलोकितः, ककुद्मान्=वृषभः, असोढसिंहध्वनिः=केसरिनिनादमसहमानः सन्, उन्नाद=उच्चैर्ननाद, जगर्जेत्यर्थः ।

व्युत्पत्त्यादयः—तुषारसंघातशिलाः—तुषाराणां संघातस्तुषारसंघाताः ते एव शिलाः तुषारसंघातशिलास्ताः । 'तुषारस्तुहिनं हिमम्' इति, 'स्तोमौघव्रातनिकरवारसंघातसंचयाः' इति चामरः । खुराग्रैः–खुराणामग्राणि खुराग्राणि तैः । 'शफं क्लीबे खुरः पुमान्' इत्यमरः । 'अग्रं पुरस्तादुपरि परिमाणे पलस्य च । आलम्बने समूहे च प्रान्ते च स्यान्नपुंसकम् । अधिके च प्रथमे चाभिधेयवत् ।'

इति मेदिनी। समुल्लिखन्–समुल्लिखतीति समुल्लिखन्। दर्पकलः—दर्पेण कलः मधुरध्वनिर्यस्य सः। 'दर्पोऽवलेपोऽवष्टम्भश्चित्तोद्रेकः स्मयो मदः।' इत्यभिधानकोषः। 'कलं शुक्रे त्रिष्वजीर्णे नाव्यक्तमधुरध्वनौ।' इति च कोषः। ककुद्मान्—ककुदमस्यास्तीति ककुद्मान् 'प्राधान्ये राजलिङ्गे च वृषाङ्गे ककुदोऽस्त्रियाम्। इत्यमरः। असोढ़सिंहध्वनिः—सह्यते स्म इति सोढः। सिंहस्य ध्वनिः सिंहध्वनिः। न सोढः सिंहध्वनिर्येन असौ असोढसिंहध्वनिः सन्। विविग्नैः–विशेषण विग्नाः विविग्नास्तैः। उन्नाद—उत्पूर्वाद् 'णद अव्यक्ते शब्दे' धातोः परोक्षे लिट्। स्वभावोक्तिरत्रालङ्कारः।

भावार्थः—खुरप्रान्तविलिखितहिमशिलातलो नित्यदृप्ततयाऽस्फुटमधुरस्वनः सिंहनिनादमसहमानो हरवृषभो भयचकितैर्गवयैः साशङ्कं कथंचिद् दृष्टः सन् उन्ननाद।

भाषार्थ—शिवजी का वाहन नन्दी अपने खुरों से घनीभूत हिमशिलाओं को खोदता हुआ वहाँ पर ऊँचे शब्द से गरजता था। नित्य दृप्त रहने के कारण उसका रंभना मधुर प्रतीत होता था, वह शेरों की ध्वनि को सहन नहीं कर सकता था तथा चवर गाय भयचकित होकर उसे यथाकथंचित् देख पाती थीं।।

तत्राग्निमाधाय समित्समिद्धं स्वमेव मूर्त्यन्तरमष्टमूर्तिः।
स्वयं विधाता तपसः फलानां केनापि कामेन तपश्चचार ॥ ५७ ॥

अन्वयः—तपसः फलानां स्वयं विधाता अष्टमूर्तिः तत्र स्वम् एव मूर्त्यन्तरम् समित्समृद्धम् अग्निम् आधाय केनापि कामेन तपः चचार।

व्याख्या—तपसः=तपश्चर्यायाः, फलानाम्=देवत्वेन्द्रत्वादीनाम् स्वयम्=आत्मना, विधाता=कर्ता, दातेत्यर्थः। अष्टमूर्तिः=जलाद्यष्टस्वरूपः, ईश्वर इत्यर्थः। तत्र=हिमाद्रिप्रस्थे, स्वम् एव=स्वकीयमेव, मूर्त्यन्तरम्=मूर्तिविशेषम्, समित्समिद्धम्=इध्मदीपितम्। अग्निम्=वह्निम्, आधाय=स्थापयित्वा। केनापि अपूर्वेणेत्यर्थः। कामेन=कामनया, तपः=तपस्याम्, चचार=चरति स्म।

व्युत्पत्त्यादयः—तपसः—तप्यतेऽनेनेति तपः, 'तपः कृच्छ्रादि कर्म च' इत्यमरः। तस्य तपसः। फलानाम्—फलनानि फलानि तेषां फलानाम् 'फलं हेतुसमुत्थे स्यात् फलके व्युष्टिलाभयोः। जातीफलेऽपि कक्कोले सस्यबाणाग्रयोरपि।।' इति विश्वः। विधाता—विशेषेण दधातीति विधाता। अष्टमूर्तिः—अष्टौ मूर्तयो देहा यस्य सः अष्टमूर्तिः 'मूर्तिः काठिन्यकामयोः।' इत्यमरः। भूतार्कचन्द्रयज्वानो मूर्तयोऽष्टौ प्रकीर्तिताः।' इत्यागमः। मूर्त्यन्तरम्–अन्या मूर्तिर्मूर्त्य-

न्तरम् । समित्समिद्धम्—समिद्भिरिन्धनैः समिद्धं दीपितम् समिध्यते याभिस्ताः समिधस्ताभिः समिद्भिः । समिध्यते स्मेति समिद्धम्, तस्मादेव धातोः कर्मणि क्तः । काष्ठं दार्विन्धनं त्वेध इध्ममेधः समित् स्त्रियाम्' इत्यमरः । 'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' इति न्यायात् कामेनेत्युक्तिः भगवतोऽत्राप्तसकलकामत्वात् केनापीत्युक्तिः भगवतस्तपश्चर्याद्यनुष्ठानं वस्तुतो लोकशिक्षार्थं एव भवति । तथा च भगवद्वाक्यम्—"नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि' इत्यादि ।

भावार्थः—तपसां फलरूपाणां देवत्वेन्द्रत्वादीनां स्वयं प्रदाताष्टमूर्तिः श्रीभगवान् शङ्करः स्वीयमेव मूर्तिभेदं समिद्भिर्दीपितं वह्निं तत्र प्रस्थे आधाय केनापि कामेन तपस्यां चचार ।

भाषार्थ—तपस्याओं के फल देवत्व, इन्द्रत्व आदि के स्वयं प्रदाता भगवान् श्रीशंकर समिधाओं से प्रदीप्त अपनी ही एक मूर्ति अग्नि को वहाँ स्थापित कर सब प्रकार से पूर्ण होते हुए भी न जाने किस अपूर्व की कामना से तप करने लगे ।। ५७ ।।

अनर्घ्यमर्घ्येण तमद्रिनाथः स्वर्गौकसामर्चितमर्चयित्वा ।
आराधनायास्य सखीसमेतां समादिदेश प्रयतां तनूजाम् ।। ५८ ।।

अन्वयः—अद्रिनाथः अनर्घ्यं स्वर्गौकसाम् अर्चितम् अर्घ्येण अर्चयित्वा अस्य समाराधनाय सखीसमेतां तनूजां प्रयतां समादिदेश ।

व्याख्या—अद्रिनाथः=शैलाधिराजः, हिमाद्रिरित्यर्थः । अनर्घ्यम्=अमूल्यम्, स्वर्गौकसाम्=दिविषदाम् देवानामित्यर्थः । अर्चितम् पूज्यमानम् तम्=महेश्वरम्, अर्घ्येण=पूजार्थोदकादिना, अर्चयित्वा=पूजयित्वा, अस्य महेश्वरस्य, समाराधनाय=सन्तोषणाय, सखीसमेताम्=सवयस्याम् जयाविजयाभ्यां सहितामित्यर्थः । प्रयताम्=नियताम् तनूजाम्=स्वसुताम्, समादिदेश=आज्ञापयामास ।

व्युत्पत्त्यादयः—अद्रिनाथः—अद्यन्ते इत्यद्रयः तेषां नाथः अद्रिनाथः । अनर्घ्यम्—अर्घं मूल्यमर्हतीत्यर्घ्यः । 'मूल्ये पूजाविधावर्घः' इत्यमरः । न अर्घ्यः अनर्घ्यस्तमनर्घ्यम् । अमूल्यमित्यर्थः । स्वर्गौकसाम्—स्वर्ग ओकोयेषान्ते स्वर्गौकसस्तेषां स्वर्गौकसाम् 'स्वरव्ययं स्वर्गनाकत्रिदिवत्रिदशालयाः' इति, 'ओकः सद्माश्रयश्चौकाः' इति चामरः । अर्चितम् अर्च्यते इत्यर्चितम् । देवैः पूज्यमानमित्यर्थः । अर्घ्येण अर्घार्थं पूजार्थं द्रव्यमर्घ्यं तेन । 'षट् तु त्रिष्वर्घ्यमर्घार्थे पाद्यं पादाय वारिणि ।' इत्यमरः । आराधनाय आराध्यतेऽनेनेति आराधनम् । 'आराधनं साधने स्यादवाप्तौ तोषणेऽपि च ।' इत्यमरः । तस्मै । सखीसमेताम्—

समानं ख्यायेते इति सख्यौ ताभ्यां समेता सखीसमेता ताम् । 'आलिः सखी वयस्या च' इत्यमरः । प्रयताम्—प्रयतते इति प्रयता ताम् । 'पवित्रः प्रयतः दूतः' इत्यमरः । तनूजाम्–तन्वा जाता तनूजा ताम् 'कायो देहः क्लीबपुंसोः स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः' इत्यमरः । समादिदेश—सम् + आङ् इत्युपसर्गपूर्वकात् 'दिश अतिसर्जने' धातोः कर्तरि परोक्षे लिट् ।

भावार्थः—शैलाधिराजो हिमवान् स्वेप्सितलाभाय त्रिदशैरपि पूज्यमानं केनापि स्वीयपुण्यपरिपाकेण स्वसानौ स्थितं महेश्वरमर्घोदकादिना सम्पूज्य तस्य संसेवनाय सवयस्यां प्रयतां सुतामाज्ञापयामास ।

भाषार्थ—शैलराज हिमालय ने अति दुर्लभ, देवताओं के भी पूजनीय, स्वभाग्यवश प्राप्त देवाधिदेव महादेवजी का अर्घोदक आदि से पूजन कर उसकी आराधना करने के लिए सखियों के——जया विजया के–साथ अपनी निर्विकार पुत्री को आज्ञा दी ।। ५८ ।।

प्रत्यर्थिभूतामपि तां समाधेः शुश्रूषमाणां गिरिशोऽनुमेने ।
विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ।। ५९ ।।

अन्वयः—गिरिशः समाधेः प्रत्यर्थिभूताम् अपि शुश्रूषमाणां ताम् अनुमेने, विकारहेतौ सति येषां चेतांसि न विक्रियन्ते त एव धीराः ।

व्याख्या—गिरिशः = गिरीशः, शिवः । समाधेः=ध्यानस्य प्रत्यर्थिभूताम् अपि = प्रतिपक्षभूताम् अपि, शुश्रूषमाणाम् = सेवमानाम्, ताम् =पार्वतीम्, अनुमेने==अङ्गीकृतवान् । विकारहेतौ सति==विकारस्य प्रकृत्यन्यथात्वस्य कारणे स्त्रीसन्निधानादिहेतौ सति, येषाम् =पुरुषपुङ्गवानाम्, चेतांसि=मनांसि, न विक्रियन्ते =न विकृतिं यान्ति, त एव=उक्तपुरुषा एव, धीराः=घृतिसम्पन्नाः, नान्ये इत्यर्थः ।

व्युत्पत्त्यादयः—गिरौ शेते इति गिरिशः । 'गिरीशो गिरिशो मृडः' इत्यमरः । समाधेः—समाधीयते चित्तमनेनेति समाधिस्तस्य समाधेः । 'समाधिर्ध्याननीवाकनियमेषु समर्थने ।' इति विश्वः । प्रत्यर्थिभूताम्—प्रतिकूलमर्थयते इति प्रत्यर्थी, प्रत्यर्थी भूता इति प्रत्यर्थिभूता ताम् । 'अभिघातिपरारातिप्रत्यर्थिपरिपन्थिनः ।' इत्यमरः । शुश्रूषमाणाम्–श्रोतुमिच्छति शुश्रूषते, शुश्रूषते इति शुश्रूषमाणा ताम् । सेवका हि सेव्ये दत्तकर्णा भवन्तीति प्रसिद्धिः । अनुमेने—अनुपूर्वात् 'मनु अवबोधने' धातोः कर्तरि परोक्षे लिट् । न प्रतिषिद्ध-

वानिति तदभिप्रायः । विकारहेतौविकारस्य हेतुः विकारहेतुस्तस्मिन् विकार-हेतौ । अत्रार्थान्तरन्यासः ।

भावार्थः—भगवान् चन्द्रशेखरः चित्तैकाग्र्यरूपे ध्याने विक्षेपकारिणीमपि सेवमानां तां न प्रतिषिद्धवान्, विक्रियाहेतौ विद्यमानेऽपि येषां मनांसि विकृतिं न गच्छन्ति त एव धीराः सन्ति ।

भावार्थ—यद्यपि वह चित्त की एकाग्रता रूप ध्यान में विक्षेप डालने वाली थी, तथापि भगवान् चन्द्रशेखर से सेवा कर रही उसे (पार्वतीको) रोका नहीं, क्योंकि विकार के कारणों के विद्यमान रहने पर भी जिनके चित्त में विकृति नहीं आती वे ही वास्तव में धीर पुरुष हैं ।। ५९ ।।

शुश्रुषाप्रकारमेव वर्णयति—

अवचितबलिपुष्पा वेदिसंमार्गदक्षा
नियमविधिजलानां बर्हिषां चोपनेत्री ।
गिरिशमुपचचार प्रत्यहं सा सुकेशी
नियमितपरिखेदा यच्छिरश्चन्द्र पादैः ॥ ६० ॥

अन्वयः—सुकेशी सा अवचितबलिपुष्पा वेदिसंमार्गदक्षा नियमविधिजलानां बर्हिषां च उपनेत्री तच्छिरश्चन्द्रपादैः नियमितपरिखेदा सती प्रत्यहं गिरिशम् उपचचार ।

व्याख्या—सुकेशी=मञ्जुलकुन्तला, सा=पार्वती, अवचितबलिपुष्पा=लूनपूजाप्रसूना, वेदिसंमार्गदक्षा=नियमवेदिकासंमार्जनचतुरा, नियमविधिजलानाम् नित्यकर्मानुष्ठानपयसाम् बर्हिषां च=कुशानां च, उपनेत्री=आनेत्री सती, तच्छि-रश्चन्द्रपादैः=हरमूर्धस्थमृगाङ्कमयूखैः नियमितपरिखेदा=निवर्तितपरिश्रमा सती, प्रत्यहम्=प्रतिदिनम् गिरिशम्=खण्डपरशुम्, उपचचार=शुश्रूषां चक्रे ।

व्युत्पत्त्यादयः—सुकेशी शोभनाः केशा यस्याः सा सुकेशी रुचिर मूर्धजा । 'चिकुरः कुन्तलो बालः कचः केशः शिरोरुहः' इति, 'सुन्दरं रुचिरं चारु सुषमं साधु शोभनम् ।' इति चामरः । अवचित बलिपुष्पा—अवाचायिषत इति अवचि-तानि, बल्यर्थं पुष्पाणि बलिपुष्पाणि अवचितानि बलिपुष्पाणि यया सा अवचित-बलिपुष्पा । बलिर्दैत्यप्रभेदे च करचामरदण्डयोः । उपहारे पुमान् स्त्री तु जरया श्लथचर्मणि । गृहदारुप्रभेदे च जठरावयवेऽपि च ।' इति मेदिनी । वेदिसंमार्ग-दक्षा—वेदेः संमार्गस्तस्मिन् दक्षा । संमार्जनं संमार्गः । नियमविधिजलानाम्—नियमस्य विधिर्नियमविधिः तस्य जलानि नियमविधिजलानि तेषाम् । 'नियमस्तु स

यत्कर्म नित्यमागन्तुसाधनम् ।' इत्यमरः । नियम्यतेऽनेनेति नियमः । बर्हिषाम्—बृंहन्तीति बर्हिषः पुंल्लिङ्गा नपुंसकलिङ्गश्चायं शब्दः । 'बर्हिः पुंसि हुताशने । न स्त्री कुशे' इत्यभिधानवचनात् । उपनेत्री—उपनयतीति उपनेत्री । तच्छिरश्चन्द्र-पादैः—तस्य शिरस्तच्छिरः 'उत्तमाङ्गं शिरः शीर्षम्' इत्यमरः । तस्मिन् चन्द्र-स्तस्य पादास्तैः 'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः' इत्यमरः । नियमितपरिखेदा—निय-मितः परिखेदो यस्याः सा नियमित परिखेदा । प्रत्यहम्—अहन्यहनि प्रत्यहम् । गिरिशम्—मृडम् 'गिरिशो मृडः' इत्यमरः । उपचचार—उपपूर्वात् चर धातोः कर्तरि परोक्षे लिट् । मालिनीवृत्तम् । तल्लक्षणं यथा—'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः ।'

भावार्थः—सुकेशी सा पूजार्थकुसुमानामवचयैः नियमवेदिकायाः संमार्जनैः नियमविधेर्जलानां च समाहरणैः भगवन्तं गिरिशमुपचरितवती तथा तन्मस्तकेन्दु-किरणैस्तस्याः परिश्रमो निवर्त्यते स्म ।

भाषार्थ—काले घुँघराले मनोहर केशवाली पार्वती नियम से प्रतिदिन पूजा के लिए फूल चुनकर, वेदी तपश्चर्या का स्थान झाड़-बुहार कर, नित्यानुष्ठान के लिए जल भर कर तथा कुशों का आहरण कर भगवान् शिवजी की शुश्रूषा किया करती थी तथा भगवान् शंकर के मस्तक पर विराजमान चन्द्रकिरणों द्वारा उसकी सारी थकावट दूर हो जाती थी ॥ ६० ॥

इति श्रीमुखशाण्डिल्यगोत्रोत्पन्न-त्रिपाठ्युपाह्व-श्रीकृष्णमणिशास्त्रि-
कृतया विमलाख्यया व्याख्यया सनाथः श्रीकविकालिदास-
कृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये उमोत्पत्तिर्नाम
प्रथमः सर्गः ।

—:०:—

श्लोकानुक्रमणिका

(प्रथमः सर्गः)

॥ श्रीः ॥

कुमारसम्भवम्

❀❀❀

द्वितीयः सर्गः

अथ प्रस्तुतकथानुकूलं कथान्तरमारभते—

तस्मिन् विप्रकृताः काले तारकेण दिवौकसः।
तुरासाहं पुरोधाय धाम स्वायम्भुवं ययुः॥ १॥

अन्वयः—तस्मिन् काले तारकेण विप्रकृताः दिवौकसः तुरासाहं पुरोधाय स्वायम्भुवं धाम ययुः।

व्याख्या—तस्मिन् काले=पार्वतीसेवासमये, 'कालो दिष्टोऽप्यनेहापि समयोऽप्यथ पक्षतिः' इत्यमरः। तारकेण = तारकासुरेण, विप्रकृताः = उपप्लुताः, दिवौकस=देवाः, तुरासाहं=इन्द्रं, पुरोधाय=पुरस्कृत्य, स्वायम्भुवं धाम= ब्रह्मणः स्थानं, ययुः=गताः।

व्युत्पत्तिः—दिवौकसः—द्यौः ओकः येषां ते दिवौकसः। तुरासाहं—तुरं साहयति त्वरितं अभिभवति इति तुराषाट् तं तुरासाहम्। स्वायम्भुवम्—स्वयम्भुवः इदं स्वायम्भुवं तत् स्वायम्भुवम्—'हिरण्यगर्भो लोकेशः स्वयम्भूश्चतुराननः' इत्यमरः।

भावार्थः—पार्वत्याः शिवशुश्रूषासमये यज्ञभागभुजो देवा इन्द्रम् अग्रे कृत्वा वज्रनाभपुत्रस्य तारकासुरस्योपद्रवनिवेदनाय ब्रह्मणः लोकं गताः।

भाषार्थ—जिस समय भगवती पार्वती भगवान् सदाशिव की सेवा कर रही थीं, उसी समय असुरराज तारकासुर के द्वारा किये गये उपद्रव से दुःखी होकर सभी देवता देवराज इन्द्र को आगे करके ब्रह्माजी के पास गये॥ १॥

देवानां ब्रह्मणो दर्शनप्रकारमाह—

तेषामाविरभूद् ब्रह्मा परिम्लानमुखश्रियाम्।
सरसां पद्मजातानां प्रातर्दीधितिमानिव॥ २॥

अन्वयः—परिम्लानमुखश्रियां तेषां ब्रह्मा सुप्तपद्मानां सरसाम्—प्रातःदीधितिमान् इव आविरभूत्।

व्याख्या—परिम्लानमुखश्रियाम् = परिक्षीणाननकान्तीनां, तेषां=देवानां

ब्रह्मा=परमेष्ठी: "ब्रह्मात्मभूः सुरज्येष्ठः परमेष्ठी पितामह" इत्यमरः। सुप्तपद्मानां= =मुकुलितकमलानां, सरसां=कासाराणां, 'कासारः सरसीरुह' इत्यमरः। प्रातः =प्रभाते, दीधितिमान् इव=सूर्यं इव, आविरभूत्=प्रादुरभूत 'प्रकाशे प्रादुराविः स्यादि'त्यमरः।

व्युत्पत्तिः—परिम्लानमुखश्रिया-म्मुखस्य श्रीः मुखश्रीः परिम्लाना मुखश्रीः येषां ते परिम्लानमुखश्रियः तेषां परिम्लानमुखश्रियाम्। सुप्तपद्मानां—सुप्तानि पद्मानि येषां तानि सुप्तपद्मानि तेषां सुप्तपद्मानाम्। दीधितिमान्=दीधितिः अस्ति अस्येति दीधितिमान्।

भावार्थः—प्रभाते मुकुलितकमलानां सरोवराणां सूर्यं इव तारकोपद्रवेण दुःखितमनसाम् इन्द्रादिदेवानां सम्मुखे ब्रह्मा स्वयमाविरभवत्।

भाषार्थं—सुबह मुकुलित कमलवाले तालाब के सामने सूर्य के उदय के समान तारकासुर के उपद्रव से उदासीनमुख इन्द्रप्रभृति देवताओं के सम्मुख ब्रह्माजी स्वयं प्रकट हो गये ॥ २ ॥

देवकर्तृकं ब्रह्मोपस्थानमाह—

अथ सर्वस्य धातारं ते सर्वे सर्वतोमुखम्।
वागीशं वाग्भिरर्थ्याभिः प्रणिपत्योपतस्थिरे ॥ ३ ॥

अन्वयः—अथ सर्वे ते सर्वतोमुखं वागीशं सर्वस्य धातारं प्रणिपत्य अर्थ्याभिः वाग्भिः उपतस्थिरे।

व्याख्या—अथ = अनन्तरं, ब्रह्मण आविर्भावानन्तरं, सर्वे = निखिलाः ते=देवाः, सर्वतोमुखं=विश्वतोमुखं (चतुर्मुखं), वागीशं=वाक्पतिं सर्वस्य= सकलस्य जगतः, धातारं=स्रष्टारं, प्रणिपत्य=प्रणम्य, अर्थ्याभिः=यथार्थाभिः वाग्भिः=वाणीभिः, उपतस्थिरे=उपस्थानं चक्रुः। 'गीर्वाग्वाणी सरस्वती'त्यमरः

व्युत्पत्तिः—सर्वतोमुखम्—सर्वतोमुखानि यस्यः स सर्वतोमुखः तं सर्वतोमुखम्। वागीशं—वाचामीशः वागीशः तं वागीशम्। अर्थ्याभिः अर्थादनपेता अर्थ्याः ताभिः अर्थ्याभिः। 'वागीशो वाक्पतिः समावि'त्यमरः।

भावार्थः—अथ ते सकलाः देवाः सकलसंसारसृष्टिकारकं चतुर्मुखं ब्रह्माणं प्रणम्य यथार्थभूताभिः वाणीभि; स्तोतुं समुपचक्रिरे इति भावः।

भाषार्थं—ब्रह्माजीके दर्शन होने पर वे सभी देवता सारे संसार के निर्माता चतुर्मुख ब्रह्माजी की यथार्थ वाणी से स्तुति करने लगे ॥ ३ ॥

अथ द्वादशभिः श्लोकैः ब्रह्मणः स्तुतिप्रकारं प्रपञ्चयन्नादौ तस्य त्रिमूर्तिसृष्टौ कारणत्वमाह—

नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने ।
गुणत्रयविभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुषे ॥ ४ ॥

अन्वयः—(हे भगवन् !) सृष्टेः प्राक् केवलात्मने पश्चात् गुणत्रयविभागाय भेदम् उपेयुषे (अत एव) त्रिमूर्तये तुभ्यं नमः ।

व्याख्या—(हे भगवन् !) सृष्टेः=सर्गात्, प्राक्=पूर्वं, केवलात्मने=एकरूपाय, पश्चात्=अनन्तरं (सृष्टिकाले), गुणत्रयविभागाय=सत्त्वरजस्तमोगुणविभागाय, भेदं=उपाधिम् उपेयुषे=प्राप्तवते, अत एव, त्रिमूर्तये=ब्रह्मविष्णुमहेश्वररूपिणे, तुभ्यं=भवते, नमः=प्रणामः, अस्तीति शेषः ।

व्युत्पत्तिः—केवलात्मने—केवलः आत्मा यस्य स केवलात्मा तस्मै केवलात्मने गुणत्रयविभागाय—गुणानां त्रयं गुणत्रयं गुणत्रयमेव विभागः यस्य स गुणत्रयविभागः तस्मै गुणत्रयविभागाय । 'गुणाः सत्त्वं रजस्तमाः' इत्यमरः । त्रिमूर्तये—तिस्रः मूर्तयो यस्य स त्रिमूर्तिस्तस्मै त्रिमूर्तये ।

भावार्थः—हे भगवन् ! सृष्टेः पूर्वं एकरूपाय पश्चात् सृष्टिसमये क्रमशः सत्त्वरजस्तमोगुणमधिष्ठाय ब्रह्मविष्णुरुद्रात्मने त्रिरूपाय तुभ्यं नमोऽस्तु इति शेषः । उक्तञ्च—

'नमो रजोजुषे सृष्टौ स्थितौ सत्त्वमयाय च ।
तमोरूपाय संहारे त्रिरूपाय स्वयम्भुवे ॥' इति ॥

भाषार्थ—हे भगवन् ! सृष्टि के पहले एक रूप धारण करने वाले और सृष्टि के समय क्रमशः सत्त्व-रज-तम इन तीनों गुणों का आश्रय करके ब्रह्मा-विष्णु-महेश अर्थात् त्रिमूर्तिरूप उपाधि को धारण करने वाले आपको प्रणाम है ॥ ४ ॥

अथ संसारसृष्टिप्रकारमाह—

यदमोघमपामन्तरुप्तं बीजमज ! त्वया ।
अतश्चराचरं विश्वं प्रभवस्तस्य गीयसे ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे अज ! अपाम् अन्तः त्वया यत् अमोघं बीजं उप्तम्, अतः चराचरं विश्वं (उत्पन्नं) तस्य प्रभवः गीयसे ।

व्याख्या—हे अज=हे ब्रह्मन् !, अपां=जलानां, अन्तः=मध्ये, त्वया=भवता, यत् अमोघं=सफलं, बीजं=वीर्यं, 'शुक्रं तेजो रेतसी च बीजवीर्येन्द्रियाणि च' इत्यमरः । उप्तं=निक्षिप्तं, अतः=अस्मात् बीजात्, चराचरं=स्थावरजङ्ग-

मात्मकं, विश्वं=जगत् (उत्पन्नं इति शेषः), तस्य=विश्वस्य, प्रभवः=कारणं, गीयसे=कथ्यसे, लोकैरिति शेषः ।

व्युत्पत्तिः—हे अज !—न जायते इति अजः तत्सम्बुद्धौ हे अज ! अमोघं—न मोघं अमोघम् । चराचरम्—चरन्तीति चरा, न चरा अचराः चराश्चाऽचराश्चेति चराचरं तत् चराचरम् । प्रभवः—प्रभवति अस्मात् इति प्रभवः ।

भावार्थः—हे ब्रह्मन् ! भवता प्रथमं जलसृष्टिं कृत्वा तदन्तः यदव्यर्थं बीजं प्रक्षिप्तं तत एव स्थावरजङ्गमात्मकं सर्वं विश्वं उत्पन्नमिति मन्वादयो वदन्तीति भावः । तदुक्तं मनुस्मृतौ—

'अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ।
तस्मादण्डात्समुपन्नं जगत्स्थावरजंगमम् ।।' इति ।।

भाषार्थ—हे भगवन् ! सर्वप्रथम आपने जल की सृष्टि करके उसमें जो अमोघ वीर्य का वपन किया था उसी से यह चराचर संसार उत्पन्न हुआ । इसीलिए मन्वादि महर्षियों ने आपको सारे विश्व का कारण माना है ।। ५ ।।

ननु त्वं न केवलं सृष्टेः कारणमसि किन्तु स्थितिसंहारयोरपीत्याह—

तिसृभिस्त्वमवस्थाभिर्महिमानमुदीरयन् ।
प्रलयस्थितिसर्गाणामेकः कारणतां गतः ।। ६ ।।

अन्वयः—एकः त्वं तिसृभिः अवस्थाभिः महिमानं उदीरयन् प्रलयस्थिति-सर्गाणां कारणतां गतः, असीति शेषः ।

व्याख्या—एकः=एकाकी (सृष्टेः प्राक्), त्वं=भवान्, तिसृभिः=त्रिसख्या-काभिः ब्रह्माविष्णुमहेशस्वरूपाभिः, अवस्थाभिः=दशाभिः, महिमानं=महत्त्वं उदीरयन्=जृम्भयन्, प्रलय-स्थिति-सर्गाणां=सृष्टिपालनसंहाराणां, कारणतां= उपादानकारणतां, गतः=प्राप्तोऽसीति शेषः ।

व्युत्पत्तिः—उदीरयन्—उदीरयतीति उदीरयन् । प्रलयस्थितिसर्गाणां—प्रलयश्च स्थितिश्च सर्गश्चेति प्रलयस्थितिसर्गा तेषां प्रलयस्थितिसर्गाणाम् । कारणताम्—कारणस्य भावः कारणता तां कारणताम् ।

भावार्थः—हे ब्रह्मन् ! सृष्टेः पूर्वं एकाकी त्वं ब्रह्मविष्णुमहेशस्वरूपाभिः अवस्थाभिः त्रिमूर्तिभेदेन स्वकीयं ऐश्वर्यं प्रकटयन् सृष्टिपालनसंहाराणां उपादान-कारणतां गतोऽसीति भावः ।

भाषार्थ—हे भगवन् ! सृष्टि के पहले आप अकेले ही रहते हैं, बाद में ब्रह्मा, विष्णु, महेश यह तीन रूप धारण कर अपनी शक्ति के प्रभाव को प्रकट करते हुए स्वयं सृष्टि, पालन और संहार के कारण होते हैं ।। ६ ।।

अथेदानीं मिथुनसृष्टिप्रकारमाह—

स्त्रीपुंसावात्मभागौ ते भिन्नमूर्तेः सिसृक्षया ।
प्रसूतिभाजः सर्गस्य तावेव पितरौ स्मृतौ ॥ ७ ॥

अन्वयः—स्त्रीपुंसौ सिसृक्षया भिन्नमूर्तेः ते आत्मभागौ (स्तः) तौ एव प्रसूतिभाजः सर्गस्य पितरौ स्मृतौ ।

व्याख्या—स्त्रीपुंसौ=नारीपुरुषौ, सिसृक्षया=स्रष्टुमिच्छया, भिन्नमूर्तेः=भिन्नशरीरस्य, द्विधाकृतकायस्य ते=तव, आत्मभागौ=देहांशौ स्तः, तौ एव प्रसूतिभाजः=उत्पत्तिभाजः, सर्गस्य=सृष्टेः, पितरौ=मातापितरौ, स्मृतौ=कथितौ, विद्वद्भिरिति शेषः ।

व्युत्पत्तिः—स्त्रीपुंसौ—स्त्री च पुमांश्च स्त्रीपुंसौ 'स्त्रीर्योषिदबला योषा नारी सीमन्तिनी वधूरि'त्यमरः, "स्युः पुमांसः पञ्चजनाः पुरुषः पूरुषाः नराः" इत्यमरः । सिसृक्षया – स्रष्टुमिच्छा सिसृक्षा तया सिसृक्षया । भिन्नमूर्तये—भिन्ना मूर्तिः यस्य स भिन्नमूर्तिः तस्य भिन्नमूर्तेः । आत्मभागौ—आत्मनः भागौ आत्मभागौ । प्रसूतिभाजः–प्रसूतिं भजतीति प्रसूतिभाक् तस्य प्रसूतिभाजः । पितरौ—माता च पिता च पितरौ ।

भावार्थः—हे परमेष्ठिन् ! नरनार्यौ । स्रष्टुमिच्छया मायामवलम्ब्य प्रकृतिपूरुषात्मना द्विधाकृतशरीरस्य भवतः स्त्रीपुंसौ स्तः, तौ एव उत्पत्तिमतः निजसृष्टेः मातापितरौ स्त इति भावः ।

तदुक्तं मनुना—

'द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः ॥' इति ॥

भाषार्थ—हे ब्रह्मन् ! स्त्री-पुरुषों की सृष्टि करने की इच्छा से माया का अवलम्बन करके प्रकृति पुरुष-भिन्न रूप धारण करनेवाले आपके शरीर के स्त्री और पुरुष ये दो भाग हैं । वे ही पैदा होनेवाली सृष्टि के माता-पिता कहे जाते हैं ॥ ७ ॥

अथ वेदान्ताभिमतसर्गसंहारप्रसंगेन स्तुतिमाह—

स्वकालपरिमाणेन व्यस्तरात्रिन्दिवस्य ते ।
यौ तु स्वप्नावबोधौ तौ भूतानां प्रलयोदयौ ॥ ८ ॥

अन्वयः—स्वकालपरिमाणेन व्यस्तरात्रिन्दिवस्य ते यौ तु स्वप्नावबोधौ तौ (एव) भूतानां प्रलयोदयौ (भवतः) ।

व्याख्या—स्वकालपरिमाणेन=स्वीयसमयप्रमाणेन व्यस्तरात्रिन्दिवस्य=

विभक्तनक्तन्दिनस्य, ते=तव, यौ स्वप्नावबोधौ=ये तु निद्राजागरणे तौ स्वप्नावबोधौ (एव), भूतानां=प्राणिनां, प्रलयोदयौ=संहारसृष्टी, भवतः इति भावः ।

व्युत्पत्तिः—स्वकालपरिमाणेन—स्वस्य कालः स्वकालः तस्य परिमाणः स्वकालपरिमाणः तेन स्वकालपरिमाणेन । व्यस्तरात्रिन्दिवस्य—रात्रिश्च दिवा च रात्रिन्दिवम् व्यस्तं रात्रिन्दिवं यस्य स तस्य व्यस्तरात्रिन्दिवस्य । स्वप्नावबोधौ–स्वप्नश्च अवबोधश्चेति स्वप्नावबोधौ । प्रलयोदयौ—प्रलयश्च उदयश्च प्रलयोदयौ ।

भावार्थः—हे ब्रह्मन् ! परार्धपरिमितेन स्वायुषा कल्पिताहोरात्रविभागस्य ते निद्रा एव महाप्रलयस्तव प्रबोध एव संसारस्य सर्गो भवतीति भावः ।

तथा चोक्तं—'यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत् ।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥' इति ।

भाषार्थ—हे ब्रह्मन् ! परार्ध परिमित अपने काल से दिन और रात का विभाग करके आपका शयन ही संसार का प्रलय है और आप का जागरण ही संसार की सृष्टि है ॥ ८ ॥

ननूपादानं विना कथं स्वप्नजागरणमात्रेण संसारस्य प्रलयोद्भवावित्याह—

जगद्योनिरयोनिस्त्वं जगदन्तो निरन्तकः ।
जगदादिरनादिस्त्वं जगदीशो निरीश्वरः ॥ ९ ॥

अन्वयः–हे भगवन् । त्वं जगद्योनिः स्वयं अयोनिः जगदन्तः स्वयं निरन्तकः त्वं जगदादिः (अत एव) अनादिः त्वं जगदीशः (स्वयं) निरीश्वरः (असि) ।

व्याख्या—हे भगवन् ! त्वं = भवान्, जगद्योनिः = भुवनकारणं सन् 'अथो जगती लोको विष्टपं भुवनं जगत्' इत्यमरः । (अनादित्वात्)' अयोनिः = अकारणः असि, जगदन्तः = संसारसंहर्ता सन्, स्वयं निरन्तकः=अन्तरहितः असि (नित्यत्वात्),जगदादिः=संसारादिः, अत एव अनादिः=आदिरहितः, जगदीशः =लोकस्वामी सन्, स्वयं निरीश्वरः=अनियम्योऽसि ।

व्युत्पत्तिः—जगद्योनिः–जगतः योनिः जगद्योनिः । अयोनिः—न विद्यते योनिः यस्य स अयोनिः । जगदन्तः—जगतः अन्तः जगदन्तः । निरन्तकः— निर्गतः अन्तो यस्मात् स निरन्तकः । जगदादिः–जगतः आदिः जगदादिः । अनादिः–अविद्यमानः आदिर्यस्य स अनादिः । जगदीशः—जगतामीशः जगदीशः निरीश्वरः—निर्गत ईश्वरो यस्मात् स निरीश्वरः ।

भावार्थः—हे भगवन् ! त्वं चराचरस्य प्रपञ्चजातस्य उपादानकारणमसि कारणान्तररहितोऽसि, संसारस्य संहारकोऽपि पुनः संहर्तृरहितोऽसि । जगद्यो-

नित्वात्सृष्टेः पूर्वं विद्यमानोऽपि पुनरादिरहितोऽसि, जगतामीशोऽपि पुनः ईशान्तर-रहितोऽसीति भावः ।

भाषार्थ—हे भगवन् ! स्थावर–जंगमात्मक सकल प्रपञ्च के उपादन कारण होते हुए भी आप स्वयं कारणान्तर रहित हो और जगत् के नाशक होते हुए भी नाश रहित हो, संसारसृष्टि के आदि में विद्यमान होते हुए भी आप आदि रहित हो एवं आप संसार के ईश्वर हैं परन्तु आपका ईश्वर कोई नहीं है ।। ९ ।।

ननूत्पादकान्तररहित्ये दृश्यमानस्य चतुर्मुखस्य कथमुत्पत्तिरित्याह—

आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना ।
आत्मना कृतिना च त्वमात्मन्येव प्रलीयसे ।। १० ।।

अन्वयः—हे भगवन् ! त्वं आत्मानं आत्मना एव वेत्सि । आत्मानं आत्मना एव सृजसि । कृतिना आत्मना आत्मनि एव प्रलीयसे ।

व्याख्या—हे भगवन् । त्वं आत्मानं=स्वं, आत्मना=स्वयमेव, वेत्सि= जानासि, आत्मानं=स्वं, आत्मना=स्वयमेव, सृजसि=उत्पादयसि, कृतिना= कृतकृत्येन, आत्मना=स्वदेहेन, आत्मनि एव=स्वस्मिन्नेव प्रलीयसे=प्रलीनो भवसि । तथा च मनुः—

'एवं स सर्वं सृष्ट्वेदं मां चाचिन्त्य पराक्रमः ।
आत्मन्यन्तर्दधे भूयः काले कालेन पीडयन् ।।' इति ।

व्युत्पत्तिः—कृतिना—कृतमस्यास्तीति कृती तेन कृतिना ।

भावार्थः—हे भगवन् ! त्वं सृष्टेः प्राग् आत्मस्वरूपं तत्सर्गोपायं च स्वयमेव जानासि ततः तं सृजसि सर्गानन्तरं पुनः परार्धपर्यन्तं स्वावतारकार्येषु निवृत्तेषु कृतकार्यः सन् स्वशरीरं आत्मन्येव लीनं करोषीति भावः ।

भाषार्थ—हे भगवन् ! आप सृष्टि के पहले अपने स्वरूप को और उसकी सृष्टि के उपाय को स्वयं जानते हो तथा उसकी सृष्टि भी करते हो । पश्चात् परार्धद्वय पर्यन्त अपने देह को रक्षित कर अपने अवतार कार्य पूर्ण होने पर कृतकृत्य होकर अपने देह को अपने में ही लीन कर लेते हो ।। १० ।।

ब्रह्मणोऽणिमादिसिद्धिषु स्वाधीनत्वमाह—

द्रवः संघातकठिनः स्थूलः सूक्ष्मो लघुर्गुरुः ।
व्यक्तो व्यक्तेतरश्चासि प्राकाम्यं ते विभूतिषु ।। ११ ।।

अन्वयः—हे भगवन् ! त्वं द्रवः संघातकठिनः स्थूलः सूक्ष्मः लघुः गुरुः व्यक्तः व्यक्तेतरश्च असि, विभूतिषु ते प्राकाम्यं अस्तीति शेषः ।

व्याख्या—हे भगवन् !=हे ब्रह्मन् !, त्वं=भवान्, द्रवः=रसात्मकः, सरित्स-मुद्रादिवत्, संघातकठिनः=महीधरादिवत् संयोगकठोरः, स्थूलः=इन्द्रियप्रत्यक्षः सूक्ष्मः=परमाण्वादिवत् इन्द्रियाग्राह्यः, लघुः=तूलादिवत् उत्पतनयोग्यः, गुरुः= पर्वतादिवदचलनीयः, व्यक्तः=कार्यरूपः, व्यक्तेतरः=व्यक्तभिन्नः असि, विभूतिषु= =ऐश्वर्यादिषु, ते=तव, प्राकाम्यं=यथाकाम्यम्, अस्तीति शेषः ।

व्युत्पत्तिः—संघातकठिनः—संघातेन कठिनः संघातकठिनः । व्यक्तेतरः—व्यक्तादितरः व्यक्तेतरः ।

भावार्थः—हे भगवन् ! त्वं सरित्समुद्रादिवद्रसात्मकोऽसि, महीधरवत् कठिन घटादिवदिन्द्रयग्रहणयोग्यः तूलवल्लघुः पर्वतवदचलोऽसि कार्यरूपः कारणरूपश्चासि एवम्—

'अणिमा महिमा चैव लघिमा गरिमा तथा ।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशत्वं वशित्वं चाऽष्टसिद्धयः ॥' इति ।

शास्त्रोक्तासु अणिमादिषु अष्टसिद्धषु तव यथा कामत्वमस्ति ।

भाषार्थ—हे भगवन् ! आप सरित्ससुद्र के समान द्रव रूप हैं और पर्वत की तरह कठिन हैं तथा घटादि के सदृश इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने योग्य हैं । परमाणु के तुल्य अतीन्द्रिय हैं, रुई की तरह आकाश में उड़ने योग्य हैं और पर्वत के समान अचल हैं एवं आप कार्य और कारण रूप हैं । इस प्रकार अणिमादि अष्ट सिद्धियों द्वारा आप जो चाहे कर सकते हैं ॥ ११ ॥

वेदानां ब्रह्मण उद्भवमाह—

उद्घातः प्रणवो यासां न्यायैस्त्रिभिरुदीरणम् ।
कर्म यज्ञः फलं स्वर्गस्तासां त्वं प्रभवो गिराम् ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे ब्रह्मन् ! यासां उद्घातः प्रणवः यासां त्रिभिः न्यायैः उदीरणम् यासां कर्म यज्ञ फलं स्वर्गः त्वं तासां गिरां प्रभवः असि ।

व्याख्या—हे ब्रह्मन् ! यासां=गिरां वाणीनां, उद्घातः=उपक्रमः, प्रणवः= ओंकारः 'ओंकारप्रणवौ समौ' इत्यमरः । यासां=गिरां, त्रिभिः=त्रिसंख्याकैः, न्यायैः=उदात्तानुदात्तस्वरितस्वरैः, उदीरणम्=उच्चारणम् ।, 'यासां गिरां कर्म= क्रियाप्रतिपाद्यं, यज्ञः=ज्योतिष्टोमाद्यध्वरः, 'यज्ञः सवोध्वरो यागः सप्ततन्तुर्मखः क्रतुः' इत्यमरः । फलं=लाभं, स्वर्गः=नाकः, त्वं तासां=तादृशीनां, गिरां प्रभवः=कारणं, असीति शेषः ।

व्युत्पत्तिः—न्यायै—नीयन्ते अर्थविशेषा एभिरिति न्यायाः तै न्यायैः। कर्म—क्रियते यत्तत् कर्म। यज्ञः—इज्यते अनेन यज्ञः। प्रभवः—प्रभवति अस्मात्प्रभवः।

भावार्थः—हे ब्रह्मन्! या वाणी ओंकारेण आरब्धा भवति, तां वाणीं उदात्तादिस्वरैः वैदिका उच्चारयन्ति यया वाण्या ज्योतिष्टोमादिः यागो भवति, यस्या वाण्याः फलं स्वर्गः लभ्यते ता वेदवाण्यः त्वत्त एवोत्पद्यन्ते।

भाषार्थ—हे ब्रह्मन्! जो देववाणी ओंकारसे आरम्भ की जाती है। उदात्त, अनुदात्त, स्वरित इन तीन प्रकार के स्वरों से जिसका उच्चारण होता है। जिसे ज्योतिष्टोमादि याग किये जाते हैं और जिसका फल स्वर्ग का मिलना है उस वेदवाणी के आप उद्भवस्थान हैं॥ १२॥

सांख्यशास्त्रप्रतिपाद्यौ प्रकृतिपुरुषौ त्वमेवासीत्याह—

त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम्।
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः॥ १३॥

अन्वयः—हे ब्रह्मन्! त्वां पुरुषार्थप्रवर्तिनीं प्रकृतिं आमनन्ति त्वां एव तद्दर्शिनं उदासीनं पुरुषं विदुः।

व्याख्या—हे ब्रह्मन्! त्वां=भवन्तं, पुरुषार्थप्रवर्तिनीं=पुरुषभोगापवर्ग-प्रवर्तिनीं, मूलप्रकृतिं=मूलकारणं, 'प्रधानं प्रकृतिः स्त्रियाम्' इत्यमरः। आमनन्ति=कथयन्ति। त्वामेव तद्दर्शिनं=प्रकृतिदर्शकं, उदासीनं=कूटस्थं पुरुषं, (विदुः=कपिलादयो,) विदुः=जानन्ति।

व्युत्पत्तिः—पुरुषार्थप्रवर्तिनीं—पुरुषस्यार्थ पुरुषार्थः तस्मै प्रवर्तते तच्छीला पुरुषार्थप्रवर्तिनीं तां पुरुषार्थप्रवर्तनीम्। तद्दर्शिनम्—तां पश्यतीति तद्दर्शी तं तद्दर्शिनम्।

भावार्थः—हे ब्रह्मन्! सांख्यशास्त्रकर्तारः कपिलादयः त्वां पुरुषस्य भोगाप-वर्गार्थप्रवर्तिकां मूलप्रकृतिं प्रतिपादयन्ति। प्रकृतिद्रष्टारं कूटस्थं पुरुषमपि त्वामेव कथयन्तीति भावः।

भाषार्थ—हे ब्रह्मन्! सांख्यशास्त्र के प्रवर्तक कपिलादि ऋषिगण आपको पुरुष के भोग और अपवर्ग सम्पादन करनेवाली मूलप्रकृति कहते हैं। आपको ही उस प्रकृति को साक्षात्कार करनेवाला पुष्कर पलाशदिवत् निर्लेप उदासीन पुरुष भी मानते हैं॥ १३॥

ब्रह्मणः सर्वपरत्वमाह--

त्वं पितॄणामपि पिता देवानामपि देवता।
परतोऽपि परश्चासि विधाता वेधसामपि ॥ १४ ॥

अन्वयः—हे भगवन्! त्वं पितॄणाम् अपि पिता, देवानां अपि देवता, परतः अपि च परः असि, वेधसां अपि विधाता असि।

व्याख्या—हे भगवन्! पितॄणां=अग्निष्वात्तादीनां, अपि, पिता=जनकः 'तातस्तु जनकः पिता' इत्यमरः। देवानां=अमराणां, अपि, देवता=दैवतं परतः=पराद्ब्रह्मणः अपि च, परः=उत्कृष्टः असि, वेधसां=सृष्टिकर्तॄणां प्रजापतीनां अपि, विधाता=स्रष्टा असि।

व्युत्पत्तिः—देवानाम्— दीव्यन्तीति देवाः तेषां देवानाम्। देवता—देव एव देवता। वेधसां—विदधतीति वेधसः तेषां वेधसाम्।

भावार्थः—हे ब्रह्मन्! त्वं अग्निष्वात्तादीनामपि पितॄणां आदरणीयोऽसि, इन्द्रादीनां देवानामपि अधीश्वरोऽसि, परात्पुरुषादपि परपुरुषोऽसि, जगत्कर्तॄणामपि मरीच्यादिप्रभृतीनां स्रष्टाऽसि।

भाषार्थ—हे भगवन्! आप अग्निष्वात्तादि पितरों के भी पिता हैं, इन्द्रादि देवों के देव हैं और माया शम्बलित पर पुरुष से भी परे हैं तथा जगत् के निर्माण करनेवाले प्रजापतियों के सृष्टिकर्ता हैं ॥ १४ ॥

अथ ब्रह्मणः सर्वात्मकत्वप्रतिपादनपुरःसरं स्तुतिमुपसंहरति--

त्वमेव हव्यं होता च भोज्यं भोक्ता च शाश्वतः।
वेद्यं च वेदिता चासि ध्याता ध्येयं च यत्परम् ॥ १५ ॥

अन्वयः—शाश्वतः त्वं एव हव्यं होता च असि भोज्यं भोक्ता च असि वेद्यं वेदिता च असि ध्याता यच्च परं ध्येयं तच्च असि।

व्याख्या—शाश्वतः=सनातनः "शाश्वतस्तु ध्रुवो नित्य सनातन-सनातनौ" इत्यमरः। त्वमेव=भवानेव, हव्यं= पुरोडाशादिकं होमसाधनं, होता च= हवनकर्ता यजमानश्च असि; भोज्यं=भक्ष्यं अन्नादिकं भोक्ता च=भक्षणकर्ता च असि, वेद्यं=ज्ञेयं, वेदिता च=ज्ञाता च असि, ध्याता=ध्यानकर्त्ता, यच्च परं= उत्कृष्टं वस्तु ध्येयं=ध्यानयोग्यं तच्च असि।

व्युत्पत्तिः—शाश्वतः—शश्वत् भवः शाश्वतः। हूयते यत्तत् हव्यम्। जुहोतीति होता। भोक्तुं योग्यं भोज्यम्। भुनक्तीति भोक्ता। वेदितुं योग्यं वेद्यम्। वेत्तीति वेदिता। ध्यायतीति ध्याता।

भावार्थः—हे ब्रह्मन् ! त्वमेव नित्यः पुरोडाशादिकं होमसाधनं यजमानश्चासि, त्वमेव यज्ञफलभूतस्वर्गादिरूपस्तद्भोक्ता चासि, त्वमेव प्रपञ्चः प्रपञ्चसाक्षी चासि, त्वमेवोपासकः उपास्यश्चासीति भावः।

भाषार्थ—हे भगवन् ! नित्यस्वरूप आप ही पशु-पुरोडाशादि होमसाधनद्रव्य और यजमान हैं, आप ही यज्ञ के प्रधान फल रूप स्वर्ग और स्वर्गभोक्ता हैं, आप ही सकल प्रपञ्च साक्षी हैं, आप ही उपासक और उपास्य हैं ॥ १५ ॥

ब्रह्मणः प्रतिवचनमाह—

इति तेभ्यः स्तुतीः श्रुत्वा यथार्थाः हृदयङ्गमाः।
प्रसादाभिमुखो वेधाः प्रत्युवाच दिवौकसः ॥ १६ ॥

अन्वयः—वेधाः इति तेभ्यः यथार्थाः हृदयङ्गमा स्तुतीः श्रुत्वा प्रसादाभिमुखः सन् दिवौकसः प्रत्युवाच।

व्याख्या—वेधाः=विधाता, तेभ्यः=देवेभ्यः, यथार्थाः=सत्याः, अत एव हृदयङ्गमा=मनोरमाः, स्तुतीः=स्तोत्राणि "स्तवः स्तोत्रं स्तुतिर्नुति।" इत्यमरः। श्रुत्वा=आकर्ण्य, प्रसादाभिमुखः=अनुग्रहतत्परः सन्, दिवौकसः=देवान्, प्रत्युवाच=प्रत्युत्तरितवान्।

व्युत्पत्तिः—विदधातीति वेधाः। "स्रष्टा प्रजापतिर्वेधाः विधाता विश्वसृड्विधि" इत्यमरः। हृदयं गच्छन्तीति हृदयङ्गमाः। प्रसादे अभिमुखः प्रसादाभिमुखः। दिवः ओकः येषां ते दिवौकसः।

भावार्थः—ब्रह्मा अमरेभ्य इत्थं भूताः सत्याः मनोहराः स्तुतीः श्रुत्वा अनुग्रहं कर्तुमुद्यतः सन् देवान् प्रत्युत्तरितवान्।

भाषार्थ—इस प्रकार देवताओं द्वारा की हुई सत्य और मनोहर स्तुतियों को सुनकर अत्यन्त दयालु ब्रह्माजी ने इन्द्रादि देवताओं से बोलना प्रारम्भ किया ॥ १६ ॥

ब्रह्मणः प्रतिवचने वैशिष्ट्यमाह—

पुराणस्य कवेस्तस्य चतुर्मुखसमीरिता।
प्रवृत्तिरासीच्छब्दानां चरितार्था चतुष्टयी ॥ १७ ॥

अन्वयः—चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः पुराणस्य कवेः तस्य चतुर्मुखसमीरिता सती चरितार्था आसीत्।

व्याख्या—चतुष्टयी=चतुर्विधा, शब्दानां=पदानां, प्रवृत्तिः=वाणीप्रवृत्तिः पुराणस्य=पुरातनस्य, कवेः=कवयितुः मनीषिणः "धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः

सङ्ख्यावान् पण्डितः कविः'' इत्यमरः । तस्य=परमेष्ठिनः, चतुर्मुखसमीरिता=चतुराननोच्चरिता सती, चरितार्था=सफला, आसीत्=बभूव ।

व्युत्पत्तिः—चतुष्टयी—चत्वारः अवयवा यस्याः सा चतुष्टयी । पुराणस्य—पुरापि नव इवेति पुराणः तस्य पुराणस्य । चतुर्मुखसमीरिता - चतुर्भिर्मुखैः समीरिता चतुर्मुखसमीरिता । "वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम्'' इत्यमरः ।

भावार्थः—द्रव्य-गुण-क्रिया-जातिभेदेन परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीति चतुर्विधा शब्दानां प्रवृत्तिः पुराणस्य कवेः परमेष्ठिनः चतुर्भिर्मुखैः समुच्चरिता सती अन्वर्था अभवदिति भावः तथा चोक्तम्—

"वैखरी शब्दनिष्पत्तिर्मध्यमा श्रुतिगोचरा ।
द्योतितार्था च पश्यन्ती सूक्ष्मा वागनपायिनी ।।'' इति ।

भाषार्थ—अनादि कवि ब्रह्माजी के चारों मुखों से निकलने वाली द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति के भेद से परा पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी नामक शब्दों की चार प्रकार की प्रवृत्ति चरितार्थ हो गयी ।। १७ ।।

इतः परमेकादशभिः श्लोकैः परमेष्ठिनः प्रतिवचनप्रकारं प्रपञ्चयति—

स्वागतं स्वानधीकारान्प्रभावैरवलम्ब्य वः ।
युगपद्युगबाहुभ्यः प्राप्तेभ्यः प्राज्यविक्रमाः ।। १८ ।।

अन्वयः—हे प्राज्यविक्रमाः ! स्वान् अधिकारान् प्रभावैः अवलम्ब्य युगपद् प्राप्तेभ्यः युगबाहुभ्यः वः स्वागतम् अस्तु इति शेषः ।

व्याख्या—हे प्राज्यविक्रमाः=हे प्रचुरपराक्रमाः !, स्वान्=निजान्, अधिकारान्=नियोगान्, प्रभावैः=सामर्थ्यैः, अवलम्ब्य=आस्थाय, युगपद्=समकालं, प्राप्तेभ्यः=आगतेभ्यः, युगबाहुभ्यः=दीर्घभुजाभ्यः, वः=युष्मभ्यं, स्वागतं=शुभागमनमस्तु ।

व्युत्पत्तिः—हे प्राज्यविक्रमाः ! प्राज्यः विक्रमो येषां ते प्राज्यविक्रमाः तत्सम्बुद्धौ हे प्राज्यविक्रमाः ! "प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यपदभ्रैर्बहुलं बहु' इत्यमरः । युगबाहूभ्यः—युगौ इव बाहू येषां ते युगबाहवः तेभ्यः युगबाहुभ्यः 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः'' इत्यमरः । शोभनं आगतं स्वागतम् ।

भावार्थः—हे प्रचुरपराक्रमाः देवाः स्वशक्तिभिः स्वानधिकारान् आश्रित्य वर्तमानानां एकदा समुपस्थितानामाजानुबाहूनां युष्माकं सुस्वागतमस्तु, इति भाव ।

भाषार्थ—हे विपुलबलशाली देवताओ ! अपनी-अपनी शक्तियों से अपने-अपने अधिकारों पर स्थित एक साथ आये हुए आप लोगों का स्वागत हो ।

किमिदं द्युतिमात्मीयां न बिभ्रति यथा पुरा।
हिमक्लिष्टप्रकाशानि ज्योतींषीव मुखानि वः ॥ १९ ॥

अन्वयः—हे वत्साः ! हिमक्लिष्टप्रकाशानि ज्योतींषीव वः मुखानि पुरा यथा आत्मीयां द्युतिं न बिभ्रति, इदं किम् ?

व्याख्या—हे वत्साः ! हिमक्लिष्टप्रकाशानि=प्रालेयप्रमृष्टप्रभाणि, ज्योतींषि इव=नक्षत्राणि इव, वः=युष्माकं, मुखानि=वदनानि "वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम्" इत्यमरः। पुरा=पूर्वं, यथा=इव, आत्मीयां=निजां, द्युतिं=कान्ति "शोभा कान्तिर्द्युतिश्छविः" इत्यमरः। न बिभ्रति=न धारयन्ति इदं किम्=एतत् किन्निमित्तम्।

व्युत्पत्तिः—हिमक्लिष्टप्रकाशानि—हिमेन क्लिष्टः प्रकाशः येषां तानि हिमक्लिष्टप्रकाशानि। आत्मीयाम्—आत्मनः इयं आत्मीया तां आत्मीयाम्।

भावार्थः—नीहारेण म्लानप्रभाणि नक्षत्राणीव भवतां मुखानि नैसर्गिकीं कान्ति पूर्ववन्न दधतीदं किं कारणकमस्तीति भावः।

भाषार्थ—ओस कण के गिरने से नक्षत्रों के समान क्षीणकान्ति वाले आप लोगों के मुख पहले की तरह स्वाभाविक शोभा से रहित दीख पड़ रहे हैं इसका क्या कारण है ॥ १९ ॥

प्राधान्यादिन्द्रस्यावस्थां प्रदर्शयति—

प्रशमादर्चिषामेतदनुद्गीर्णसुरायुधम् ।
वृत्रस्य हन्तुः कुलिशं कुण्ठिताश्रीव लक्ष्यते ॥ २० ॥

अन्वयः—अर्चिषां प्रशमात् अनुद्गीर्णसुरायुधम् एतत् वृत्रस्य हन्तुः कुलिशं कुण्ठिताश्रि इव लक्ष्यते।

व्याख्या—अर्चिषां=तेजसां, प्रशमात्=निर्वाणात्, अनुद्गीर्णसुरायुधम्=अनुद्गतेन्द्रधनुः, एतत्=इदं, वृत्रस्य=वृत्रासुरस्य, हन्तुः=घातकस्य इन्द्रस्य, कुलिशं=वज्रं, "ह्लादिनी वज्रमस्त्री स्यात्कुलिशं भिदुरं पविः" इत्यमरः। कुण्ठिताश्रि=नष्टशक्तिकोटिहतप्रभं इव, लक्ष्यते=दृश्यते।

व्युत्पत्तिः—अनुद्गीर्णसुरायुधम्—न उद्गीर्णमनुद्गीर्णं सुराणां आयुधम् सुरायुधम् अनुद्गीर्णं सुरायुधमिति अनुद्गीर्णसुरायुधम्। हन्तीति हन्ता तस्य हन्तुः। कुण्ठिताश्रि—कुण्ठिता अश्रयो यस्य तत् कुण्ठिताश्रि। "स्त्रियः पाल्यश्रिकोटयः" इत्यमरः।

भावार्थः—तेजसां नाशात् अनुदितेन्द्रधनुः एतत् वृत्रासुरघातकस्य इन्द्रस्य वज्रं कुण्ठितकोटीव दृश्यते इति भावः।

भाषार्थ—किरणों के नष्ट हो जाने से पहले के समान रत्नों की कान्ति जिसकी नहीं झलकती है ऐसा इन्द्र का यह वज्र हतश्री क्यों मालूम हो रहा है ॥ २० ॥

अथ वरुणस्य दशां दर्शयति—

किञ्चायमरिर्दुर्वारः पाणौ पाशः प्रचेतसः।
मन्त्रेण हतवीर्यस्य फणिनो दैन्यमाश्रितः ॥ २१ ॥

अन्वयः—किञ्च अयं अरिदुर्वारः प्रचेतसः पाणौ पाशः मन्त्रेण हतवीर्यस्य फणिनः दैन्यं आश्रितः।

व्याख्या—किञ्च=अन्यच्च, अयं=पुरो दृश्यमानः, अरिदुर्वारः=रिपुदुष्प्रधर्षः "रिपौ वैरि सपत्नारि द्विषद्द्वेषणदुर्हृदः" इत्यमरः। प्रचेतसः=वरुणस्य "प्रचेता वरुणः पाशी" इत्यमरः। पाणौ=करे, पाशः=नागपाशः, मन्त्रेण=गारुडेन मन्त्रेण, हतवीर्यस्य=नष्टपराक्रमस्य, फणिनः=सर्पस्य, दैन्यं=दीनतां, आश्रितः=प्राप्तः इव लक्ष्यते।

व्युत्पत्तिः—अरिदुर्वारः—दुःखेन वारयितुं शक्यः दुर्वारः अरीणां दुर्वारः अरिदुर्वारः। प्रचेतसः—प्रकृष्टं चेतो यस्य स प्रचेतः तस्य प्रचेतसः। हतवीर्यस्य—हतं वीर्यं यस्य स हतवीर्यः तस्य हतवीर्यस्य। फणिनः—फणाः सन्ति अस्येतिफणी तस्य फणिनः। दीनस्य भावः कर्म वा दैन्यम्।

भावार्थः—किन्तु अयं पुरो दृश्यमानः शत्रुकर्षणः वरुणस्य हस्ते विद्यमानः पाशः गारुडेन प्रतिबन्धशक्तेः सर्पस्य दीनतां प्राप्त इव प्रतीयत इति भावः।

भाषार्थ—और वरुण के हाथ में वर्तमान शत्रुनाशक यह पाश गरुड़ से अभिभूत साँप के समान दीन मालूम हो रहा है ॥ २१ ॥

कुबेर दशां दर्शयति—

कुबेरस्य मनःशल्यं शंसतीव पराभवम्।
अपविद्धगदो बाहुर्भग्नशाख इव द्रुमः ॥ २२ ॥

अन्वयः—अपविद्धगदः भग्नशाखः द्रुम इव स्थितः कुबेरस्य बाहुः मनःशल्यं पराभवं शंसतीव प्रतिभातीति शेषः।

व्याख्या—अपविद्धगदः=परित्यक्तगदास्त्रः, अत एव भग्नशाखः=छिन्नविटपः;